लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन

डॉ॰ अशोक कुमार कालिया

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
लखनऊ

लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन

लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन

लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन

लेखक

डॉ० अशोक कुमार कालिया

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ

१९७७

लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग,
हज़रतगंज,
लखनऊ–२२६००१

प्रथम संस्करण
१९७७

मूल्य
चालीस रूपये
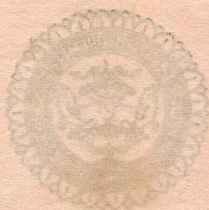
मुद्रक :
प्नार मुद्रक,
नज़ीराबाद,
लखनऊ–२२६००१

आद्यं चाभिनवं वन्दे रङ्गनाथं गुरुद्वयम्

संन्यास
सन् १९२५ ई०

परमपद
सन् १९६६ ई०

श्रीब्रह्मतन्त्रस्वतन्त्र-परकाल-मठ मैसूरु के
तैंतीसवें पीठाधिपति दिवङ्गत
श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथपरकालस्वामी
के श्रीचरणों में सादर—
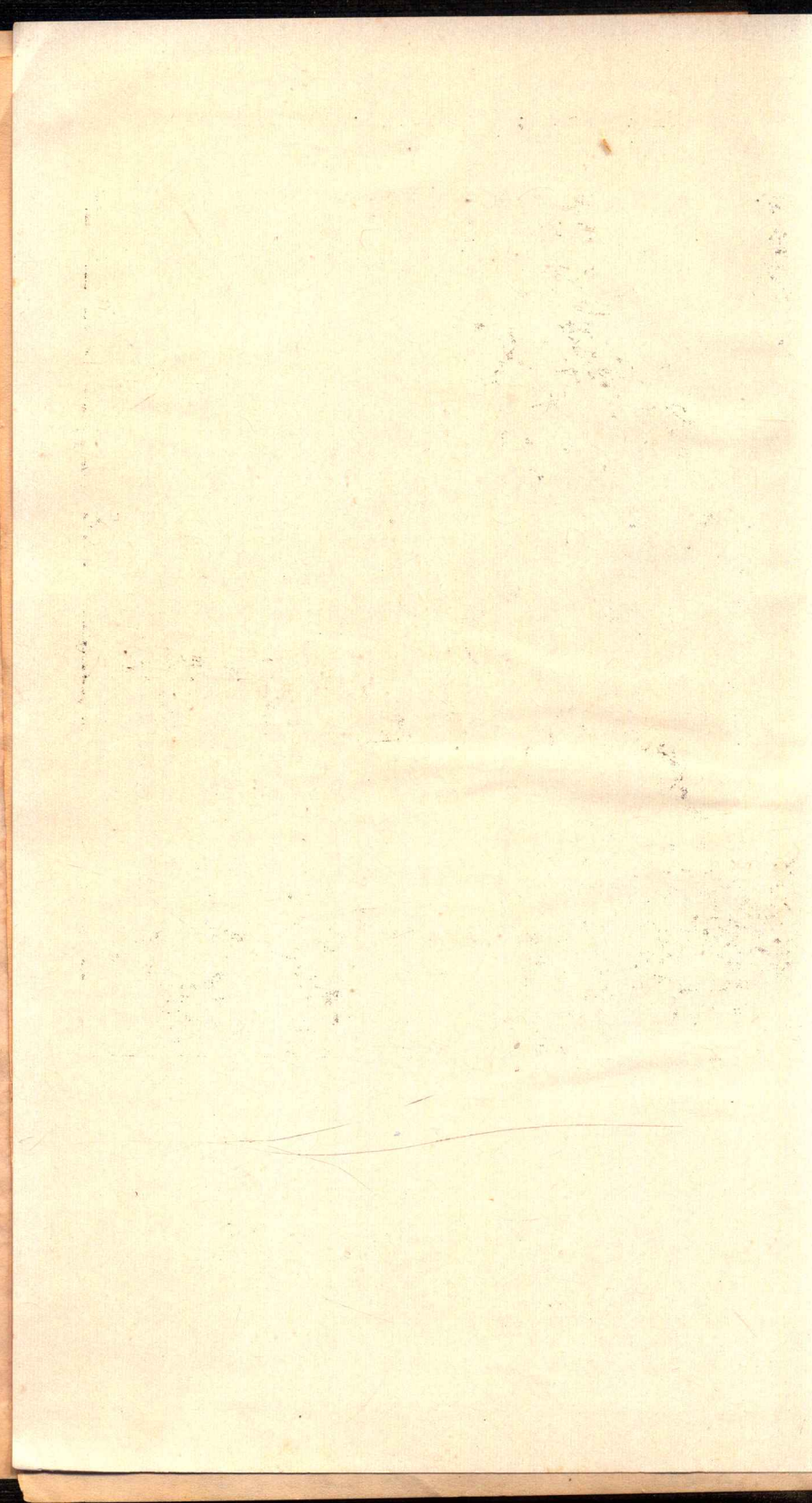
प्रकाशकीय

अपने प्रकाशनों के विषय में अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद् की दृष्टि सदा ही प्रकाश्य ग्रन्थ के महत्त्व, रचना की उत्कृष्टता, तथा विषय के वैविध्य की ओर रही है। इसी से वह कोशों के क्षेत्र में मोनियर विलियम्सकृत "इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी" और डॉ० सिनहा द्वारा विरचित "नलोपाख्यान-कोश", दर्शनविषयक ग्रन्थों के क्षेत्र में आचार्य आनन्द झाकृत "भगवती नाम्नी टीका सहित वेदान्तपरिभाषा", पुराणेतिहास के क्षेत्र में हिन्दी अनुवाद सहित "नलोपाख्यानम्" पुरातत्त्व के क्षेत्र में डॉ० थपल्याल की "स्टडीज़ इन ऐनशियण्ट इण्डियन सील्स", गणित तथा ज्योतिष् के क्षेत्र में "धीकोटिद-करणम्" और "बीजगणितावतंसः", दार्शनिक पृष्ठभूमियुक्त कथा-कहानियों के क्षेत्र में "संसारसागरमन्थनम्", सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में "श्रीकृतार्थ-"कौशिकम्", और "सुधाभोजनम्" ऐसे नाटक तथा "शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति" ऐसा सर्वथा नूतन विषय पर लिखा गया शतक, संस्कृतशिशिक्षुओं के लिए "संस्कृत फर्स्ट लेसन्स" और "सूक्तिसुधा" तथा शोधार्थियों के लिए हस्तलिखित ग्रन्थों की विवरणात्मक सूचियाँ, "पं० गोपीनाथ कविराज अभिनन्दनग्रन्थ" और 'ऋतम्' के विभिन्न साधारण और विशेष अङ्क प्रकाशित करके देश और विदेश में श्रेय अर्जित कर सकी है।

डॉ० अशोक कुमार कालिया कृत प्रस्तुत कृति दर्शन और तन्त्र दोनों के ही क्षेत्रों में पड़ती है। वैष्णव सम्प्रदाय हिन्दू धर्म का एक प्रमुख सम्प्रदाय है और पाञ्चरात्र उसका अद्यावधि चला आ रहा प्राचीनतम रूप है। उसका उत्तरवर्ती वैष्णव धर्म्म पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन पाञ्चरात्र आगमों में वर्णित पूजापाठविषयक कर्मकाण्ड का दक्षिण भारत के अनेक प्रमुख मन्दिरों में तथा कतिपय उत्तर-भारतीय मन्दिरों में भी अब तक चलन चला आ रहा है। पाञ्चरात्र आगमों में लक्ष्मीतन्त्र का एक विशिष्ट

स्थान है और इस दृष्टि से उसका महत्त्व भी विशेष है। यह होते हुए भी इस पर काम अभी तक बहुत कम हुआ है और प्रकाशित साहित्य तो नहीं के बराबर है। जहाँ तक मुझे पता है एतद्विषयक प्रकाशित साहित्य के नाम पर पण्डित वी० कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित लक्ष्मीतन्त्र के मूलपाठ तथा डॉ० (श्रीमती) संजुक्ता गुप्ता द्वारा टिप्पणियों सहित प्रस्तुत अंग्रेज़ी अनुवाद के ही नाम लिये जा सकते हैं। दक्षिण भारत में वैष्णव सम्प्रदाय का सब से प्रमुख पीठ, जहाँ पाञ्चरात्र आगमों में वर्णित कर्मकाण्ड का केवल पूर्णतया पालन ही नहीं होता अपितु जहाँ के पीठाधीश्वर उसके धर्म्म और मर्म्म के अधिकारी विद्वान् भी समझे जाते हैं, मैसूरु का परकाल मठ है। डॉ० कालिया ने इस पुस्तक को लिखने के पूर्व वहीं जाकर और वहाँ के भूतपूर्व पीठाधिपति दिवङ्गत श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथ परकालस्वामी के श्रीचरणों में बैठकर पाञ्चरात्र आगम से सम्बद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस विषय के अन्य अधिकारी विद्वानों से भी विषय को समझने में सहायता प्राप्त की है। इस दृष्टि से प्रकाश्य कृति की उत्कृष्टता में भी लेशमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता। यह कृति मूलतः डॉ० कालिया द्वारा 'पी-एच० डी०' के लिए लिखित शोधप्रबन्ध के रूप में थी। 'पी-एच० डी०' के परीक्षकों ने भी उक्त शोधप्रबन्ध की प्रशंसा की है। अतः प्रस्तुत प्रकाशन को सुधीजन तथा जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए परिषद् को विशेष प्रसन्नता है। आशा है वे इसका स्वागत करेंगे।

गोपाल चन्द्र सिंह
मन्त्री
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ

वसन्त पञ्चमी
संवत् २०३३
२४ जनवरी १९७७

Preface

I have read the thesis on लक्ष्मीतन्त्र submitted by Dr. Kalia for the Ph. D. degree of the University of Lucknow. Though the title confines the scope of the thesis to one work, in reality, it is an excellent account of the whole of the आगम literature, शैव, वैष्णव and शाक्त. After an introductory chapter entitled परिचय, follow four chapters dealing with Dharma and Darśana in which all the important topics dealt with in the Lakshmītantra are lucidly expounded. In the end there is a परिशिष्ट which has three parts (1) A bibliography of relevant Sanskrit works, (2) A bibliography of non-Sanskrit works, (3) A list of technical terms. The work shows that the anthor has a very good grasp of the purely religious and the philosophical aspects of the Pāñcarātra school of Vaiṣṇavism. Ordinarily, writers try to avoid the ritualistic side of the Āgamas. Dr. Kalia has not done so. On the contrary, he has done his best to elucti-date it and he has succeeded to a great extent. The work bears ample testimony to the author's studious nature and attention to detail. When published it will be a valuable contribution to the literature which aims at expounding and elucidating the literature of the Āgamas and the Tantras. It will be a continuation of the work of scholars like Arthur Avalon and M. M. Pt. Gopinath Kaviraj.

— K. A. Subramania Iyer
Formerly Vice--Chancellor,
Lucknow University and
Sanskrit University, Varanasi

Hindska
38, Major Banks Road
Lucknow

मुखपृष्ठ

उत्तरप्रदेश राज्य-सङ्ग्रहालय के सौजन्य से

प्रास्ताविक

पाञ्चरात्र आगमों में लक्ष्मीतन्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाञ्चरात्र-सिद्धान्त के प्रायः सभी पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाला सम्भवतः यह अपने ढङ्ग का एक ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और महत्त्व को पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में विना किसी संशय के स्वीकार किया गया है। कतिपय पाञ्चरात्र संहिताओं में लक्ष्मीतन्त्र का उल्लेख तो मिलता ही है, भारतीय दर्शन के कुछ धुरन्धर आचार्य भी इस ग्रन्थ का भरपूर उपयोग करते हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में लक्ष्मीतन्त्र का उपयोग एक महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में किया है। महेश्वरानन्द, अप्पयदीक्षित, भास्करराय दीक्षित तथा नागेश भट्ट आदि विद्वान् भी अपने ग्रन्थों में लक्ष्मीतन्त्र का उल्लेख करते आये हैं। प्रस्तुत प्रयास इसी लक्ष्मीतन्त्र के धर्म और दर्शन से सम्बद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या और विवेचना करना है। यह तो सहृदय विद्वज्जन ही बता सकेंगे कि इस उद्देश्य में सफलता किस सीमा तक प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध प्रबन्ध का ही रूपान्तर है जिस पर सन् १९६८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग से मुझे 'डॉक्टर ऑव फिलॉसफी' की उपाधि प्राप्त हुई थी। इसके मौलिक रूप में अधिक परिवर्तन नहीं किया गया है। हाँ, कुछ स्थलों पर आवश्यक संशोधन और परिवर्धन अवश्य कर दिये गये हैं।

इस कार्य के सम्पन्न होने में मुझे कई स्रोतों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायता प्राप्त हुई है। उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। सर्वप्रथम लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० सत्यव्रत सिंह के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सुयोग्य पथप्रदर्शन में यह कार्य

सम्पन्न हुआ है। श्रीवैष्णव तथा पाञ्चरात्र धर्म और दर्शन में मेरी अभिरुचि उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है।

प्रोफेसर अय्यर बहुत समय से अस्वस्थ चले आ रहे हैं। बहुत से कार्य भी उन्होंने अपने हाथों में ले रखे हैं। ऐसा होते हुए भी अपनी सहज उदारता के साथ उन्होंने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखना स्वीकार किया। मैं उनका सदा के लिए ऋणी हूँ।

श्रीब्रह्मतन्त्रस्वतन्त्र परकाल मठ मैसूरु के तैंतीसवें पीठाधिपति दिवङ्गत श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथ परकालस्वामी के श्रीचरणों में बैठकर मैंने इस सम्प्रदाय के धर्म और दर्शन का अध्ययन किया है। श्रीचरणों की कृपामयी और स्नेहमयी दृष्टि का अनुभव मैं आज भी अवकाश के क्षणों में किया करता हूँ। स्वामी जी के अतिरिक्त मठ के आस्थान पण्डित दिवङ्गत श्री आत्मकूरु दीक्षाचार्य, श्री ई० एस० वरदाचार्य तथा श्री के० एस० वरदाचार्य का इस कार्य में बहुत साहाय्य रहा है, जिसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मैं लक्ष्मीतन्त्र के सम्पादक पण्डित वी० कृष्णमाचार्य का आभारी हूँ, जिन्होंने पत्रव्यवहार के माध्यम से कई स्थलों पर मेरा मार्ग प्रशस्त किया है। काञ्चीपुरम् के श्री प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य जी द्वारा समय-समय पर प्रेषित इस विषय से सम्बद्ध साहित्य से मैं प्रचुर मात्रा में लाभान्वित हुआ हूँ। इस अहैतुकी कृपा के लिए मैं उनका भी बड़ा आभारी हूँ।

पण्डित व्रजबल्लभ द्विवेदी (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिनके द्वारा प्रदत्त विषय से सम्बद्ध सामग्री तथा सहयोग मेरे लिए अनेक रूपों में उपलब्ध रहा है। डॉ० हर्षनारायण (दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) ने अपने विचारों तथा सम्बद्ध सामग्री से अत्यधिक लाभान्वित किया है। एतदर्थ मैं उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। डॉ० जगदम्बा प्रसाद सिनहा (संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) की सत्प्रेरणा और सहयोग मुझे विविध रूपों में उपलब्ध रहा है। मैं उनका बड़ा आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त डॉ० नवजीवन रस्तोगी (अभिनवगुप्त शोध संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय) तथा डॉ० अमलशिब पाठक के प्रति उनके द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रख्यात चित्रकार प्रोफेसर सुखबीर सिंहल का मैं हृदय से आभारी हूँ

जिन्होंने इस ग्रन्थ की आवरण-सज्जा करके मेरे प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित किया है ।

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद् के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना सुखद कर्तव्य समझता हूँ, जिसने अनेक प्रकार की सीमाओं के रहते हुए भी इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वीकार किया है। परिषद् के मन्त्री श्री गोपाल चन्द्र सिंह ने प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर विशेषाङ्क के प्रकाशन आदि कार्यों में अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन में व्यक्तिगत रूप से रुचि ली है और समय भी लगाया है। एतदर्थ मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। श्री विश्वमोहन (स्वामी, प्नार मुद्रक) का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने स्वल्प काल में ही ग्रन्थ को मुद्रित करके सहयोग प्रदान किया है ।

अशोक कुमार कालिया

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ–संख्या

तृतीय अध्याय (सृष्टि-क्रम)

चतुर्थ अध्याय (जीव-तत्व)

पञ्चम अध्याय (मोक्ष और मोक्ष के उपाय)

परिशिष्ट

सङ्केत–तालिका

अहिर्बु०	अहिर्बुध्न्यसंहिता
I. Pāñ.	*Introduction to Pāñcarātra and Ahirbudhnya Saṁhitā.*
ईशोप०	ईशावास्योपनिषद्
कठ०	कठोपनिषद्
गी० ता० चं०	गीतातात्पर्यचन्द्रिका
गी० भा०	गीताभाष्य
गी० सं०	गीतार्थसङ्ग्रह
गी० सं० र०	गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा
गू० सं०	गूढार्थसङ्ग्रह
छान्दोग्य०	छान्दोग्योपनिषद्
जया० सं०	जयाख्यसंहिता
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
नि० र०	निक्षेपरक्षा
न्या० द०	न्यासदशक
न्या० प०	न्यायपरिशुद्धि
न्या० विं०	न्यासविंशति
पां० र०	पाञ्चरात्ररक्षा
बृह० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
भ० गी०	भगवद्गीता
भागवत०	श्रीमद्भागवतमहापुराण
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०	महाभारत

मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्
मृगेन्द्र०	मृगेन्द्रागम
मै० उ०	मैत्रायणी उपनिषद्
यतीन्द्र०	यतीन्द्रमतदीपिका
ल० तं०	लक्ष्मीतन्त्र
ल० तं० उ०	लक्ष्मीतन्त्र-उपोद्घात
ल० तं० टी०	लक्ष्मीतन्त्र टीका
श्वेत० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां० का०	सांख्यकारिका
स्तो० र०	स्तोत्ररत्न
हरिवंश०	हरिवंशपुराण
हय० उ०	हयशिर उपाख्यानम्

प्रथम अध्याय

परिचय

आगम

वैदिक दर्शनों में आप्त प्रमाण के अन्तर्गत श्रुति तथा स्मृति को सर्व-सम्मति से स्वीकार किया गया है।[1] ऋग् आदि वेदों को श्रुति तथा इतिहास, पुराण, और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ा साहित्य ऐसा है जो आगम के नाम से व्यवहृत किया जाता है। आगम साहित्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—(१) वैदिक तथा (२) अवैदिक। जो आगम वेदपरक हैं, या जो वेदों के उपबृंहण रूप माने जाते हैं, वे ही

१—श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्तामुल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
न्या० प०, शब्द, द्वि० पृ० १६५ पर उदाहृत

आगम वैदिक हैं, शेष बौद्ध आदि आगम अवैदिक हैं। आगमों को तन्त्र भी कहते हैं।[१] संहिता शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है।[२] आगम मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—(१) शैव, (२) शाक्त, तथा (३) वैष्णव। इनमें क्रमशः शिव, शक्ति तथा विष्णु की प्रधानता प्रतिपादित की गयी है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इन आगमों का श्रुति तथा स्मृति से किसी प्रकार का सम्बन्ध है? जहां तक बौद्ध आदि आगमों का प्रश्न है, वे अवैदिक होने के कारण श्रुति और स्मृति से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं हो सकते। हाँ, वैदिक आगम अवश्य सम्बद्ध हैं। इसी कारण उन्हें वैदिक आगम कहा जाता है। वैदिक आगमों में शैव आगम वेद के ही तुल्य माने जाते हैं। उनमें तथा वेदों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं माना गया है।[३] इस दृष्टि से शैव तथा शाक्त आगमों में भेद नहीं है। वैष्णव आगमों को वेदों का उपबृंहण माना गया है। इसी कारण उसे धर्मशास्त्र के अन्तर्गत माना गया है।[४] वेदान्तदेशिक ने सांख्य, योग, पाशुपत, तथा पाञ्चरात्र साहित्य को धर्मशास्त्र का ही भेद माना है।[५]

शैव आगम

शैव आगम तीन प्रकार के हैं—(१) भेद प्रतिपादक, (२) भेदाभेद-प्रतिपादक तथा (३) अभेद प्रतिपादक। इनको क्रमशः शिव, रुद्र, और भैरव के नाम से भी पुकारा जाता है।[६] तन्त्रालोक की जयरथ कृत व्याख्या में श्रीकण्ठी नामक ग्रन्थ का कुछ भाग उदाहृत किया गया है, जिसमें शैव आगमों

१—आगमापरनामानि तन्त्राणि...ल० तं० उ०, पृ० १

2—Instead of Saṁhitā the name Tantra is often used in the same sense. *I. Pāñ*, p. 2.

३—वयं हि वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः।
ब्रह्ममीमांसाभाष्यम्, २।२।३८

४—एतेन पञ्चरात्रस्य धर्मशास्त्रत्वं सिद्धम्।—हय०उ०, व्याख्या, पृ० ४०८

५—यानि पुनः सांख्ययोगपाशुपतपाञ्चरात्राणि तान्यपि धर्मशास्त्रभेदा एव।
न्या० प० शब्द, द्वि० पृ० १६७

६—तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदगामिना।—तन्त्रालोक, जयरथ-टीका, १।१८

की नामनिर्देश पूर्वक गणना की गयी है।[1] भेद-परक या शिव आगमों की संख्या दस है। भेदाभेदपरक या रुद्र आगमों की संख्या अठ्ठारह है। अभेद-परक अथवा भैरव आगम आठ भागों में विभक्त हैं।

१—भैरव, ५—चक्राष्टक,
२—यामल, ६—बहुरूप,
३—मत, ७—वागीश, तथा
४—मङ्गल ८—शिवाष्टक

इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत आठ आठ तन्त्र आते हैं। इस प्रकार अद्वैत-परक अथवा भैरव आगमों की संख्या चौंसठ हो जाती है।

विषय की दृष्टि से शैव आगमों को चार भागों में विभाजित किया जाता है—(१) क्रियापाद, (२) चर्यापाद, (३) योगपाद, तथा (४) ज्ञानपाद। क्रियापाद के अन्तर्गत पूजा के लिए आवश्यक विषयों के निर्माण करने का विवेचन किया गया है। मन्दिर तथा प्रतिमा आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा से सम्बद्ध सभी विषयों पर विचार किया गया है। चर्या-पाद के अन्तर्गत नित्य-कर्म तथा वर्णाश्रम-धर्म आदि विषयों से सम्बद्ध नियम आदि का वर्णन किया गया है। योगपाद में योग के आठ अङ्गों का वर्णन किया गया है, और ज्ञानपाद के अन्तर्गत सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन किया गया है। वस्तुतः शैव आगम साहित्य बहुत विस्तृत है, किन्तु उनमें दार्शनिक अंश अपेक्षाकृत कम है। धार्मिक क्रियाकलापों पर विशेषतः बल दिया गया है। सम्पूर्ण शैव आगम साहित्य उपलब्ध भी नहीं है।

शैव सम्प्रदाय के अनुसार शैव आगमों और वेद में एकरूपता है। बहुत से ऐसे विषय हैं जो शैव आगमों और वेद, दोनों में एकरूप में पाये जाते हैं बहुत से वैदिक कर्म शैव आगमों में भी प्राप्त होते है, यथा—श्राद्ध, अग्नि-

---

१—दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्॥
एतच्च श्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तम्। तद्यथा···
तन्त्रालोक, १/१८

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपनी पुस्तक
'Abhinavagupta—A Historical & Philosophical Study
(पृ० ७५-८०) के अन्दर शैव आगमों के इस विभाजन को स्पष्ट किया है।

कार्य, अष्टक, संस्कार आदि[1]। जहां तक संस्कारों का प्रश्न है शैवागमों तथा धर्मसूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों में किसी प्रकार का भेद ही नहीं दिखायी देता है। अपितु दोनों का ऐकमत्य ही झलकता है।[2]

इसके अतिरिक्त विष्णु, यम, इन्द्र, आदि शिवेतर देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इतनी विशेषता अवश्य है कि इन सब देवताओं के होते हुए भी शिव का पारम्य किसी प्रकार बाधित नहीं होता है। किसी भी प्रकार का भेद या विरोध वेद तथा शैव आगमों में नहीं है। शैव दर्शन के प्रमुख आचार्य श्रीकण्ठ शिवाचार्य का यही मन्तव्य है।[3] उनके अनुसार दोनों

1—Nandimath, S.C., *Śaivāgamas : Their Literature and Theology* Journal of Karnataka University 1960.

२—तुलना कीजिये—

गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनम्।

गौतमधर्मसूत्राणि, १।८।१४

तथा,

(क) ब्राह्मणस्याधिकाराष्टौ चत्वारिंशतमेव च।
गर्भः पुंसवनं चैव सीमन्तो जातकर्म च॥
नाम निष्क्रमणं चैव अन्नप्राशनचूडकम्।

स्वच्छन्दतन्त्र, १०।३८६, ३८७

(ख) गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं ततः॥
जातकर्म तथा नाम निष्क्रामः प्राशनं शिखा।
व्रतं वेदव्रतान्यन्ते गोक्षणं पाणियोगिता॥
पाकयज्ञा हविर्यज्ञाः सोमसंस्था परं ततः।
सत्राणि वनवासित्वं पारिव्राज्यं गुणास्ततः।

मृगेन्द्रतन्त्र, क्रिया०, ८।१५९-१६१

३—उभयोरेक एव शिवः कर्ता। ईशानः सर्वविद्यानां (महाना० ४४) अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् (बृह० ६।५।११) इत्यादि श्रुत्या,

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः॥

इति स्मृत्या च वेदे तस्य कर्तृत्वमवगतम्। अन्यत्रापि तस्यैव परमेश्वरस्य। अतः कर्तृसामान्यादुभयमप्येकार्थपरं प्रमाणमेव।

ब्रह्ममीमांसाभाष्य, २।२।३८

के कर्ता शिव ही हैं। इस बात को प्रमाणित करने के लिए वे कुछ श्रुति-स्मृतियों के वचनों को उद्धृत करते हैं। केवल श्रीकण्ठ ही इस मत के मानने वाले न थे। अपि तु बाद में होने वाले दक्षिण के कई प्रसिद्ध सन्तों ने इस बात का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। इस प्रकार के सन्तों में तिरुमलूर का नाम सर्वोपरि है।

ब्रह्मसूत्र के पत्यधिकरण पर भाष्य लिखते हुए शङ्कर तथा रामानुज ने शैव आगमों को वेद बाह्य होने के कारण अप्रामाणिक सिद्ध किया है। शैव सिद्धान्त मानने वालों को रामानुज चार भागों में विभाजित करते हैं— (१) कापाल, (२) कालामुख, (३) पाशुपत, तथा (४) शैव।[१] रामानुज का कथन है कि चारों के आचार विचार वेद-विरुद्ध हैं।[२] बाद में होने वाले अप्पय दीक्षित जैसे प्रकाण्ड पण्डितों ने शैव धर्म तथा शैव आगमों का दृढ़ता पूर्वक पक्ष लिया और अपने सभी विरोधियों के तर्कों का समुचित उत्तर दिया।

शाक्त आगम

शाक्त-तन्त्रों की संख्या चौंसठ मानी गयी है—

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्[३]—

शङ्कराचार्य की इस उक्ति से शाक्त-तन्त्रों का चौंसठ होना प्रसिद्ध ज्ञात होता है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकार लक्ष्मीधर ने वामकेश्वर-तन्त्र से चौंसठ तन्त्रों की सूची उदाहृत की है।[४] साथ ही साथ इस सूची को समझाया भी है।[५] वामकेश्वरतन्त्रानुसारिणी लक्ष्मीधर द्वारा प्रस्तुत सूची इस प्रकार है—

१—तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः—कापालाः कालामुखाः पाशुपताः शैवाश्चेति। श्रीभाष्य २।२।३५

२—पत्युः पशुपतेः, मतं नादरणीयम्, कुतः? असामञ्जस्यात्। असामञ्जस्यं च अन्योऽन्यव्याघाताद् वेदविरोधाच्च। मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुम्भस्थापनतत्स्थदेवतार्चनगूढाचारश्मशानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानान्यन्योन्यविरुद्धानि। वेदविरुद्धं चेदं तत्त्वपरिकल्पनमुपासनप्रकारश्च। श्रीभाष्य, २।२।३५

३—सौन्दर्यलहरी, ३१

४—सौन्दर्यलहरी—(लक्ष्मीधरा), ३१, पृष्ठ १३७

५—वही, पृष्ठ १३८—१४०

१ महामाया
२ शम्बर
३ योगिनीजालशम्बर
४ तत्त्वशम्बर
५ सिद्धभैरव
६ वटुकभैरव
७ कङ्कालभैरव
८ कालभैरव
९ कालाग्निभैरव
१० योगिनीभैरव
११ महाभैरव
१२ शक्तिभैरव
१३ ब्राह्मी
१४ माहेश्वरी
१५ कौमारी
१६ बैष्णवी
१७ वाराही
१८ माहेन्द्री
१९ चामुण्डा
२० शिवदूती
२१–२८ यामलाष्टक
२९ चन्द्रज्ञान
३० मालिनी विद्या
३१ महासम्मोहन
३२ वामजुष्ट
३३ महादेवतन्त्र
३४ वातुल
३५ वातुलोत्तर
३६ कामिक
३७ हृद्भेद
३८ तन्त्रभेद
३९ गुह्यतन्त्र
४० कलावाद
४१ कलासार
४२ कुण्डिकामत
४३ मतोत्तरमत
४४ वीणाख्य
४५ त्रोतल
४६ त्रोतलोत्तर
४७ पञ्चामृत
४८ रूपभेद
४९ भूतोड्डामर
५० कुलसार
५१ कुलोड्डीश
५२ कुलचूडामणि
५३ सर्वज्ञानोत्तर
५४ महाकालीमत
५५ अरुणेश
५६ मोदिनीश
५७ विकुण्ठेश्वर
५८ पूर्वपक्ष
५९ पश्चिमपक्ष
६० उत्तरपक्ष
६१ निरुत्तर
६२ विमल
६३ विमलोत्थ तथा
६४ देवीमत

यह सूची म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने 'तान्त्रिक साहित्य' की

भूमिका में सूची (ख) के अन्तर्गत प्रस्तुत की है।[1] यही सूची स्वल्प भेद अथवा पाठभेद के साथ कुलचूडामणितन्त्र में भी प्रस्तुत की गयी है।[2] वामकेश्वरतन्त्र का ही दूसरा नाम नित्याषोडशिकार्णव है। लक्ष्मीधर द्वारा उदाहृत सूची नित्याषोडशिकार्णव में स्वल्प पाठभेदों के साथ प्राप्त होती है।[3] इस प्रकार शाक्त-तन्त्रों की संज्ञाओं के विषय में लक्ष्मीधर द्वारा उदाहृत वामकेश्वरतन्त्र (नित्याषोडशिकार्णव) कुलचूडामणितन्त्र एक ही सूची उदाहृत करते हैं।

१—तान्त्रिक साहित्य, भूमिका, पृष्ठ २०

२—चतुःषष्टी च तन्त्राणि मातृणामुत्तमानि च।
महासारस्वतञ्चैव योगिनीजालसम्बरम्॥
तत्त्वसम्बरकं नाम भैरवाष्टकमेव च।
बहुरूपाष्टकं ज्ञानं यामलाष्टकमेव च॥
तन्त्रज्ञानं वासुकिञ्च महासम्मोहनं तथा।
महासूक्ष्मं महादेवि! वाहनं वाहनोत्तरम्॥
हृद्भेदं मातृभेदं च गुह्यतत्त्वञ्च कामिकम्।
कलापकं कलासारं तथान्यत् कुब्जिकामतम्॥
मायोत्तरञ्च वीणाख्यं त्रोडलं त्रोड़लोत्तरम्।
पञ्चामृतं रूपभेदं भूतडामरमेव च॥
कुलसारं कुलोड्डीशं तन्त्री विश्वात्मकं यथा।
सर्वज्ञानात्मकं देवि! सिद्धयोगीश्वरीमतम्॥
कुरूपिकामतं देवि! रूपिकामतमेव च।
सर्ववीरमतं देवि! विमलामतमुत्तमम्॥
पूर्वपश्चिमदक्षञ्च उत्तरञ्च निरुत्तरम्।
तन्त्रं वैशेषिकं ज्ञानं शिवावलिमथापरम्॥
अरुणेशं मोहनेशं विशुद्धेश्वरमेव च।
एवमेतानि तन्त्राणि तथान्यान्यपि कोटिशः॥

कुलचूडामणितन्त्र, १।४–१३

३—चतुःषष्टिश्च तन्त्राणि मातृणामुत्तमानि तु॥
महामायाशम्बरं च योगिनीजालशम्बरम्।
तत्त्वशम्बरकं नाथ भैरवाष्टकमेव च॥
बहुरूपाष्टकं ज्ञानं यामलाष्टकमेव च।
चन्द्रज्ञानं वासुकिं च महासम्मोहनं तथा॥

सर्वोल्लास-तन्त्र में तोडलोत्तर-तन्त्र के अनुसार चौंसठ तन्त्र गिनाये गये हैं।[1] किन्तु यह सूची उपर्युल्लिखित सूची से नितान्त भिन्न है। म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने 'तान्त्रिक साहित्य' की भूमिका में यह सूची (घ) के अन्तर्गत प्रस्तुत की है।[2]

आर्थर एवलॉन ने अपने ग्रन्थ 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स'[3] तथा कविराज जी ने 'तान्त्रिक साहित्य'[4] में महासिद्धसार-तन्त्र के अनुसार शाक्त तन्त्रों के तीन प्रमुख विभागों का उल्लेख किया है—

(१) विष्णुक्रान्ता,
(२) रथक्रान्ता, तथा
(३) अश्वक्रान्ता।

इन तीनों में प्रत्येक विभाग में ६४ तन्त्र हैं। उपर्युक्त दोनों ही विद्वानों

महोच्छुष्मं महादेवं वातुलं वातुलोत्तरम्।
हृद्भेदं मातृभेदं च गुह्यतन्त्रं च कामिकम्॥
कलावादं कलासारं तथान्यत् कुब्जिकामतम्।
मतोत्तरं च वीणाख्यं त्रोतलं त्रोतलोत्तरम्॥
पञ्चामृतं रूपभेदं भूतोड्डामरमेव च।
कुलसारं कुलोड्डीशं कुलचूडामणिं प्रभो॥
सर्वज्ञानोत्तरं चैव महाकालीमतं तथा।
महालक्ष्मीमतं देव सिद्धयोगीश्वरीमतम्॥
कुरूपिकामतं देव रूपिकामतमेव च।
सर्ववीरमतं देव विमलामतमेव च॥
अरुणेशं मोहिनीशं विशुद्धेश्वरमेव च।
एवमेतानि शास्त्राणि तथाऽन्यान्यपि कोटिशः॥

नित्याषोडशिकार्णवः, १।१३–२१

१—'सर्वानन्द के सर्वोल्लास-तन्त्र में भी ६४ तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। परन्तु यह सूची तोडलोत्तर के आधार पर बनी है।'

'तान्त्रिक साहित्य' भूमिका, पृष्ठ १९

२—'तान्त्रिक साहित्य' भूमिका, पृष्ठ २१

3—*Tāntrik Texts,* Vol. I, pp. ii, iii, iv

४—'तान्त्रिक साहित्य' भूमिका, पृष्ठ १९

ने इन तीनों विभागों के तन्त्रों की पूर्ण सूची अपने-अपने ग्रन्थों में दी है ।[1]

आर्थर एवलॉन ने 'प्रिन्सिपिल्स ऑव तन्त्राज़' में शाक्त आगमों की एक लम्बी सूची दी है । इस सूची में प्रायः ३०० से अधिक तन्त्रों की नामावली दी है ।[2] कविराज जी ने सम्मोहन-तन्त्र के आधार पर अन्य कई विभागों का उल्लेख किया है[3] जिससे यह संख्या बढ़ कर कहीं अधिक हो जाती है ।

शाक्त आगमों के अन्तर्गत शक्ति का प्रतिपादन सर्वोच्च देवता के रूप में किया गया है, तथा शक्ति की उपासना ही इनका प्रमुख प्रतिपाद्य है । सभी देवताओं की अपेक्षा शक्ति की परम सत्ता निस्सन्दिग्ध मानी गयी है । शाक्त आगम अधिकतर तन्त्र नाम से ही व्यवहृत होते हैं । इन सभी तन्त्रों के अन्तर्गत यद्यपि शक्ति का ही पारम्य दिखायी देता है, तथापि उतने मात्र से शिव का भी बोध हो जाता है । शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है,और उनके पार्थक्य के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है । शैव आगमों में भी शिव और शक्ति इसी प्रकार सम्बद्ध हैं । इतना अन्तर अवश्य है कि वहाँ पर शिव और शक्ति में अभेद सम्बन्ध मानते हुए भी शिव का स्थान उच्च है, जब कि शाक्त आगमों में उसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी शक्ति का प्राधान्य और पारम्य है[4] ।

इन आगमों में शक्ति की उपासना, कर्मकाण्ड, मद्य,मांस, मत्स्य,मुद्रा और मैथुन—ये पञ्च मकार, चक्र, शक्ति के विभिन्न रूपों की उपासना के लिए समय, स्थान और विधि का निर्णय, तथा उपासक की एकाग्रता के लिए कुछ आसनों का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त भयानक रोग आदि से निवृत्ति के लिये उपचारों का भी वर्णन किया गया है ।

1—*Tāntrik Texts,* Vol, I pp ii, iii, iv
तथा
'तान्त्रिक साहित्य', भूमिका, पृष्ठ २२, २३

2—*Principles of Tantras,* pp 438–441

३—'तान्त्रिक साहित्य', भूमिका, पृष्ठ २४, २५ ।

४—न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥

शिवदृष्टि, ३।३

'वाराहीतन्त्र' के अन्तर्गत आगमों के स्वभाव का वर्णन करते हुए शाक्त आगमों को तीन भागों में विभाजित किया गया है–(१) आगम[1] (२) यामल[2] तथा तन्त्र[3]। इसके अतिरिक्त डामर नामक एक अन्य विभाग भी हैं। इस प्रकार ये चारों विभाग सामान्यतः तन्त्र नाम से व्यवहृत होते हैं।

कुछ लोगों की आपत्ति है कि ये तन्त्र अधिक प्राचीन न होने के कारण प्रामाणिक नहीं हैं। किन्तु शाक्त मत वालों के लिए यह आपत्ति निराधार है। उनके अनुसार वेद और तन्त्रों में विरोध नहीं है।[4] ऋग्वेद के देवीसूक्त

१—सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगः चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥
A Prose English Translation of *Mahānirvāṇa Tantra* के Introduction में उदाहृत।

२—सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च।
युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम्॥　　वही

३—सर्गश्च प्रतिसर्गश्च मन्त्रनिर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च।
संस्थानञ्चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्चैव तरूणां कल्पसञ्चितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनञ्चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
हरचक्रस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लणक्षम्।
राजधर्मों दानधर्मों युगधर्मस्तथैव च॥
व्यवहारः कथ्यते च तथाध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादि लक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते॥　　वही

४—इन तन्त्रों को अवैदिक अथवा वेदविरोधी मानने की भी परम्परा है। यथा—
एतानि तन्त्राणि जगतामतिसन्धानकारणानि विनाशहेतुभूतानि, वैदिक-

में शाक्त तन्त्रों के बीज हैं। इनमें प्रतिपादित धार्मिक क्रियाएं अथर्ववेद में दिखायी देने वाली क्रियाओं के समान ही हैं। यद्यपि तन्त्रों में प्रतिपादित साधना व्यवहार में पुराणों के बाद आयी, तथापि कुछ तन्त्र कुछ पुराणों से प्राचीन दिखायी देते हैं। तान्त्रिक साधना भागवत पुराण के पूर्व में तो प्रचलित थी ही। भागवत के पञ्चम स्कन्ध में शूद्र राजा के सेवकों द्वारा जड़भरत को बलिदान के लिए भद्रकाली के मन्दिर में ले जाना तथा जड़भरत के प्रभाव से भद्रकाली का उच्चाटन प्रसिद्ध है।[1] इसी ग्रन्थ में गोपियाँ कृष्ण की प्राप्ति के लिए योगमाया की उपासना करती हुई दिखायी देती हैं। इस प्रकार से शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत वेद तथा उपनिषदों में प्रतिपादित विषयों का ही उपबृंहण किया गया है। अतः इनके अप्रामाण्य का प्रश्न नहीं उठता।

इनके दो भेद हैं–(१) दक्षिणाचार, (२) वामाचार। दक्षिणाचार प्रायः वेद के अनुसार ही है। वामाचार की बहुतों ने बहुत प्रकार से निन्दा तथा आलोचना की है। इसका मुख्य कारण इसको वेद मार्ग के विरुद्ध कहा जाना है।[2] वस्तुतः तन्त्रों में जो साङ्केतिक शब्दों का प्रयोग प्राचुर्य से किया गया है, वही कुछ अंशों में अनर्थ का कारण हो सकता है। उन साङ्केतिक शब्दों में भी तन्त्रों में अनेकधा वर्णित पञ्च मकार–(१. मद्य, २. मत्स्य, ३. मांस, ४. मैथुन और ५. मुद्रा) ही वस्तुतः आलोचना के मुख्य कारण हैं। शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार साङ्केतिक शब्दों का तात्पर्य बहुत सी यौगिक क्रियाओं से है। यदि इनका साक्षात् शक्यार्थ ही ग्रहण किया जाता है, तो

मार्गदूरवर्तित्वात्। अत एवोक्तं भगवत्पादैः 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्' सकलविद्वल्लोकप्रतारकाणि इमानि चतुःषष्टि तन्त्राणि।

सौन्दर्यलहरी, लक्ष्मीधरा, पृष्ठ १३७–१३८

१—···तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली। भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपभयानकवदना...।

भागवत, ५।९।१७,१८

२—वामा वाममार्गरतास्त एव पञ्चयज्ञविलोपकत्वात् कुत्सिता इति वामकाः।

ललितासहस्रनामभाष्य, श्लोक २२५

अर्थ के विषय में भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि तान्त्रिक साधक को मद्य, मत्स्य आदि की आवश्यकता पड़ती है, तथापि उसका उपयोग केवल साधना के लिए किया जाता है। प्रत्येक युवती तथा सुन्दरी कन्या के प्रति देवी–बुद्धि पूर्वक साधना करना साधारण कार्य नहीं है। मद्य का उपयोग देवी को समर्पण कर देने के बाद केवल एकाग्रता के लिए ही किया जाता है, क्योंकि साधना में स्वास्थ्य परम आवश्यक है। सामग्री के अभाव की स्थिति में उसमें लिप्त न होने को संयम नहीं कहते, अपि तु हर प्रकार की सामग्री के होते हुए भी लिप्त न होने को संयम कहते हैं। वह कार्य कठिन है, और वही कार्य तान्त्रिक साधक करता है। इस प्रकार से श्रद्धालु लोगों ने आक्षेपों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। परन्तु इस प्रकार के उत्तर भी सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुए। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने मुख्यतः पञ्चमकारों के आधार पर ही वाममार्ग की आलोचना की। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में अनेक शाक्त तन्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने वाम-मार्गियों को कुत्सित घोषित किया।[1]

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार इन पांच मकारों का तात्पर्य इस प्रकार है।

१—पश्चात् जब विषयासक्त हुए तो मद्य मांस आदि का सेवन गुप्त २ करने लगे। पश्चात् उन्हीं में से एक वाममार्ग खड़ा किया। शिव उवाच, पार्वत्युवाच, भैरव उवाच, इत्यादि नाम लिखकर तन्त्र नाम रखा। उनमें ऐसी २ विचित्र लीला की बातें लिखीं कि—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्चमकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥१॥ (कालीतन्त्रादि में)
प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥२॥ (कुलार्णवतन्त्र)
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥३॥ (महानिर्वाणतन्त्र)
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ॥४॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥५॥ (ज्ञानसङ्कलनीतन्त्र)

अर्थात् देखो इन गवर्गण्ड पोपों की लीला कि जो वेद विरुद्ध महा अधर्म के काम हैं उन्हीं को श्रेष्ठ वाममार्गियों ने माना।

सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६९,२७०

मद्य —षट्चक्रभेद की प्रक्रिया से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर कुण्डलिनी शक्ति और प्रकाश स्वरूप शिव के सामरस्य से सहस्रकमल से चूने वाले रस के पान को सुधापान कहा गया है।

मांस—पुण्य और पाप रूपी पशु को ज्ञान रूपी खड्ग से मार कर जब योगी अपने चित्त को परतत्त्व में लीन कर देता है इसी को तान्त्रिक योग में मांसाशन कहा गया है।

मत्स्य—मत्स्य के समान चञ्चल अपनी इन्द्रियों को मन से नियन्त्रित करके आत्मा में लगा देना ही मत्स्याशन कहा गया है।

मुद्रा—मुद्रा का अर्थ है शक्ति। यह शक्ति पशु अर्थात् अज्ञानी जीव में सुप्त रहती है और तान्त्रिक योगी के योगाभ्यास के द्वारा जाग उठती है। इस शक्ति का अपने सङ्कल्प के अनुसार उपयोग करना ही मुद्रा कहा जाता है।

मैथुन—उक्त पराशक्ति और योगी के स्वात्म-स्वरूप का जब सामरस्य हो जाता है इसी को वहाँ मैथुन कहा गया है। यही इनका रहस्यार्थ है।[1]

वैष्णव आगम

वैष्णव आगमों के अन्तर्गत विष्णु का परम स्थान है। इनमें विष्णु की

१—आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः।
चिच्चन्द्रकुण्डलीशक्तिसामरस्यसुखोदयः॥
व्योमपङ्कजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः।
सुधापानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः॥
पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते॥
मनसा चेन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषाःस्युः प्राणिहिंसकाः॥
अप्रबुद्धा पशोः शक्तिः प्रबुद्धा कौलिकस्य च।
शक्तिं तां सेवयेद् यस्तु स भवेत् शक्तिसेवकः॥
पराशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भरः।
य आस्ते मैथुनं तत्स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः॥
इत्यादि पञ्चमुद्राणां वासनां कुलनायिके।
ज्ञात्वा गुरुमुखाद् देवि यः सेवत स मुच्यते॥

कुलार्णवतन्त्र, ५।१०७-११३

प्रधानता, तथा विष्णु की ही आराधना आदि विषयों का मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है।

वैष्णव आगम के भेद

विष्णु अथवा नारायण या वासुदेव का परम प्राप्यतया वर्णन करने वाले वैष्णव आगम दो प्रसिद्ध भागों में विभक्त हैं—

(१) वैखानस

(२) पाञ्चरात्र

दोनों प्रकार के वैष्णव आगम पूर्णरूपेण प्रामाणिक हैं। विखनस ऋषि के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण प्रथम प्रकार के आगम का नाम वैखानस आगम पड़ा। पाञ्चरात्र नाम की सार्थकता कई प्रकार से कही जाती है, जिसका विवेचन पृथक् करना ही उचित है। हयशीर्ष-पाञ्चरात्र में वैखानस तथा पाञ्चरात्र से भिन्न सात भागवत संहिताओं का उल्लेख मिलता है।[१]

ये सात संहिताएं हैं—१. अष्टाक्षरविधान, २. तन्त्रभागवत, ३. शिवोक्त, ४. विष्णुभाषित, ५. पद्मोद्भव, ६. पुराण तथा ७. वाराह।

वैखानस आगम

यास्क ने वैखानस शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—

'विखननाद् वैखानस'[२]

इस निर्वचन को ध्यान में रखते हुये उत्तभूर वीर राघवाचार्य ने निम्नलिखित अर्थ किया है—

'विशेषेण खननाद् गभीरार्थोद्धरणात् विशिष्टवैष्णवधर्मावधारणौपयिकमीमांसनविशेषाद् विखना इति विखनसः इति चोच्यते इति ज्ञायते।[३]

१—अष्टाक्षरविधानं तु महातन्त्रं तदुच्यते।
समासैर्विस्तरैरेते भूतलं व्याप्य संस्थिताः॥
तन्त्रं भागवतं चैव शिवोक्तं विष्णुभाषितम्।
पद्मोद्भवं पुराणं च वाराहञ्च ततः परम्॥
इमे भागवतानान्तु तथा सामान्यसंहिताः।

हयशीर्षपाञ्चरात्र, २।७-९

२—निरुक्त, ३।१७

३—वैखानसविजय, पृ० १५

कई उदाहरणों से ज्ञात होता है कि वैखानस ब्रह्मा ही हैं।[1] अर्चनाधिकार तथा खिलाधिकार के द्वारा भगवान् नारायण तथा वैखानस में पिता-पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है, जिसके रचयिता भृगु कहे जाते हैं। वैखानस और ब्रह्मा एक ही पिता नारायण के पुत्र थे। वैखानस के लिए माता और पिता का अलग-अलग नामोल्लेख करने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा नारायण के औरस पुत्र थे।[2] जब कि ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण के नाभिकमल से मानी गयी है। जहाँ पर ब्रह्मा को ही वैखानस कहा गया है, वहाँ पर इसका यही अर्थ हो सकता है कि नारायण से विखनस के आगमों का उपदेश पाकर ब्रह्मा स्वयं वैखानस हो गये।[3]

कुछ भी हो, इससे इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि विखनस का समय अत्यधिक प्राचीन है। श्री साम्बशिव शास्त्री ने वैखानसागम की भूमिका में इन आगमों की स्थिति ईसापूर्व सातवीं शताब्दी निश्चित की है।[4]

वैखानस आगमों की वैदिकता

परम्परा का कथन है कि वैखानस ऋषि ने विष्णु द्वारा उपदिष्ट अर्थ को लेकर सूत्रों की रचना की, जिन्हें वैखानस सूत्र कहते हैं। यह सूत्र वेद के विरुद्ध न होने के कारण स्वयं प्रमाण हैं। इन सूत्रों का मूल वेद की वैखानस शाखा है। वैखानस शाखा मिलती नहीं है, यह भी नहीं कहा जा

१—ततः परं चतुर्वक्त्रो जटाकाषायदण्डभृत्।
नैमिशारण्यमास्थाय मुनिवृन्दनिषेविताम्॥
धाता विखनसो नाम्ना मरीच्यादि सुतान् च॥
वही पृ० १६ पर उद्धृत

२—नारायणः पिता यस्य माता चापि हरिप्रिया।
भृग्वादि मुनयः पुत्राः तस्मै विखनसे नमः॥ वही

३—नारायणोब्रह्मणे आह सर्वं वैखानसं वैदिकमन्त्रयुक्तम्।
प्रतिष्टाविधिदर्पण से Vaikhānasāgamaḥ, preface p.ii. पर उद्धृत।

४—As the modern historical research has assigned for Brāhmaṇas and Purāṇas a date not later than 7th century B. C., I think the same must be the lower limit of Vikhanas, Marīchi and other sages also.
Ibid, p. iii

सकता है। उत्तमूर वीर राघवाचार्य का कथन है कि तैत्तिरीय शाखा या तो इसी रूप में, या कुछ भिन्न रूप में वैखानस शाखा ही है।[1] पहले इस शाखा का नाम औखेय शाखा था किन्तु बाद में विखनस में अधिक गौरव होने के कारण उसी को वैखानस शाखा कहा जाने लगा। वैखानस शाखा में तो प्रमाण नहीं मिलते हैं, किन्तु औखेय शाखा का नाम अज्ञात नहीं है। चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति।
औखेयाः खाण्डिकेयाश्चेति।[2]

औखेयों के सूत्रों की रचना विखना मुनि ने की, इसमें भी प्रमाण हैं।[3] औखेय और वैखानस शाखा, अत एव, भिन्न नहीं है।[4]

पाञ्चरात्र आगम के अन्तर्गत तप्तचक्राङ्कन का विधान है। किन्तु वैखानसों के यहां दूसरी विधि है। गर्भस्थ शिशु का ही चक्राङ्कन हो जाता है। यज्ञ में विष्णु-बलि के अवसर पर पके हुए चावलों पर एक चक्र का चिह्न बनाया जाता है। गर्भिणी माता उसे खा लेती है। यही बालक का चक्राङ्कन संस्कार है। इस प्रकार, इस विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि चरणव्यूह आदि में उल्लिखित औखेय शाखा ही आगे चल कर वैखानस शाखा नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

जब वैखानस शाखा यजुर्वेद की ही एक शाखा है, तो वेद से किसी प्रकार का विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः वैखानस आगम सर्वथा प्रामाणिक हैं। यहां तक कि अद्वैत वेदान्त के प्रमुख स्तम्भ शङ्कराचार्य

१—आदिकाले तु भगवान् ब्रह्मा तु विखना मुनिः।
यजुश्शाखानुसारेण चक्रे सूत्रं महत्तरम्॥
वैखानसविजय, पृ १६

२—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०२ पर उदाहृत।

३—येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥
वैखानसश्रौतसूत्र के Preface में उदाहृत।

४—औखेयानां गर्भचक्रं न्यासचक्रं वनौकसाम्।
वैखानसान् विनान्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम्।
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्॥
वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०२ पर उदाहृत।

अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में अन्य सभी प्रकार के आगमों की किसी न किसी अंश में अप्रामाणिकता सिद्ध करते हुए वैखानस आगमों के विषय में मौन रहे। वैष्णव आगमों में पाञ्चरात्र आगमों के प्रामाण्य को भी शङ्कराचार्य ने पूरे अंशों में स्वीकार नहीं किया है। वैखानस आगम के विषय में उनके तथा अन्य भाष्यकारों के मौन रहने से यही स्पष्ट होता है कि वैखानस आगम निर्विवाद रूप से प्रामाणिक है।[1]

वेदान्तदेशिक ने भी अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में वैखानस आगमों का प्रामाण्य-स्थापन बहुत शक्तिशाली ढंग से किया है। उनका कथन है कि वैखानस आगमों तथा वेद में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अतः इस प्रकार के वेद के तात्पर्य को न जानते हुए वेद का अध्ययन करने वाला ब्राह्मण व्यर्थ ही उस भार को वहन करने के कारण गर्दभ के समान है।[2]

वैखानससूत्रों के आधार पर जिन चार महर्षियों ने आगमों की रचना की, उनके नाम हैं—काश्यप, अत्रि, भृगु और मरीचि।[3]

इस प्रकार से यही वैखानस आगम साहित्य है, और ये ही इन आगमों के रचयिता हैं, तथा इन आगमों के मूल में वे ही सूत्र हैं जिनकी रचना महर्षि विखनस ने की है।

वैखानस मतावलम्बी और दिव्यदेश

वर्तमान समय में वैखानस मतावलम्बियों की संख्या सबसे अधिक आन्ध्र-प्रदेश में हैं। वहां के गुण्टूर, गोदावरी आदि जिलों में वे अधिक संख्या

1— इस विषय में उत्तमूर वीरराघवाचार्य का कथन है—
'अत एव शाङ्करभाष्येऽपि पाञ्चरात्रस्येबदंशे प्रामाण्यमानिनि भगवदर्चनपद्धतिप्रदर्शकस्य पाञ्चरात्रस्य कथमप्रामाण्यमित्यप्रामाण्यमुखेन वैखानस-प्रामाण्यस्याप्रकम्प्यत्वमसूचि।'

वैखानसविजय, पृ० १८

२—न्या० प०, शब्द, द्वि० पृ० १६९

३—वैखानसविधिश्चैव चतुर्धा भवति द्विजाः।
आत्रेयः काश्यपीयश्च मारीचो भार्गवस्तथा॥
एतैर्वैखानसं प्रोक्तं सूत्रं वैखानसं स्मृतम्।
एषां चतुर्विधानां तु मूले तत्सूत्रमेव यत्॥

वैखानसविजय, पृ० १४ पर उद्धृत

में हैं। गञ्जम, विजगपटम्, बेल्लौर, गुडुप्पह, कोचीन, अनन्तपुरम्, बेल्लारी तथा कुरनूल आदि स्थलों पर ये अपेक्षाकृत कम संख्या में हैं। तञ्जावुर, त्रिचिरापल्ली, चिङ्गलपुट और चित्तूर नाम के तमिल जिलों में ये अधिक संख्या में तथा तिन्नवेली, रामनाद, सेलम, और कोयम्बतूर में अपेक्षाकृत कम संख्या में हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में यत्र तत्र वैखानस मतावलम्बी रहते हैं किन्तु उत्तर भारत में प्रायः कोई भी वैखानस मतावलम्बी नहीं है। एक सौ आठ वैष्णव दिव्य देशों में वैखानस दिव्य देशों की पर्याप्त संख्या है। प्रमुख वैखानस दिव्यदेश तथा उनके आराध्य देवों की सूची इस प्रकार है—

	दिव्यदेश	आराध्य देव
१—	तिरुपति	श्रीनिवास
२—	भूतपुरी	दिआकेशव
३—	तिरुअहीन्द्रपुरम्	देवनाथ
४—	ओप्पलि अप्पन	वेंङ्कटेश
५—	नाच्चियार कोइल	वेङ्कटेश
६—	तिरुकण्णनकुडि	कृष्ण
७—	नागपट्टनम्	सुन्दरराज
८—	तिरुकण्णपुरम्	शौरिराज
९—	नाथनकोइल	देवनाथ
१०—	तञ्जावुर	नीलमेघ
११—	,,	मणिपर्वत
१२—	,,	वीरनृसिंह
१३—	कण्डियूर	हरसाबविमोचन
१४—	मदुरई	सुन्दरराज
१५—	अड़हर कोइल	सुन्दरराज
१६—	दर्भशयनम्	श्रीराम
१७—	श्रीविल्लिपुत्तूर	केशव (रङ्गमन्नार)
१८—	तोताद्रि	तोताद्रिनाथ
१९—	आलवार तिरुनगरी	आदिकेशव
२०—	श्रीवैकुण्ठम्	वैकुण्ठनाथ
२१—	तिरुतङ्गाल	तिरुतङ्गावलप्पन

इनके अतिरिक्त और भी कुछ वैखानस दिव्यदेश हैं। यह सब दक्षिण भारत में ही हैं। उत्तर भारत में एक भी वैखानस दिव्यदेश नहीं है। इन दिव्यदेशों में वैखानस आगम के अनुसार ही आराधना होती है।

वैखानस और पाञ्चरात्र आगमों में परस्पर निन्दावचन

वैष्णव दृष्टि के अनुसार वैखानस और पाञ्चरात्र आगम समान रूप से प्रामाणिक हैं। इन दोनों आगमों में परस्पर विरोध भी नहीं है। भले ही कोई पाञ्चरात्रिक हो या वैखानस मतावलम्बी, दोनों के लिए तिरुपति (वैखानस दिव्यदेश) हो या श्रीरङ्गम् (पाञ्चरात्र दिव्यदेश) दोनों ही दिव्यदेश समान रूप से प्रामाणिक और पूज्य हैं। 'विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तम्'[१] इत्यादि वचनों से दोनों ही आगमों का प्रामाण्य स्पष्ट होता है। परन्तु कहीं कहीं पर ये आगम एक दूसरे की निन्दा करते हुए भी प्राप्त होते हैं।[२] किन्तु ये परस्पर

१—न्या० प०, पृष्ठ १६९ पर उद्धृत

२—यथा—तन्त्रसारसमुच्चय (पाञ्चरात्र आगम) में—

अश्रीकरमसौम्यञ्च वैखानसमसात्त्विकम् ।
तद्विधानं परित्यज्य पञ्चरात्रेण पूजयेत् ॥

पां० र०, पृ० १०१, पर उद्धृत

वैखानस आगम में—

आग्नेयं पञ्चरात्रं तु दीक्षायुक्तं च तान्त्रिकम् ।
अवैदिकत्वात्तत्तन्त्रं तथा वैखानसेन तु ॥
सोम्येन वैदिकेनैव देवदेवं समर्चयेत् ।

पां० र०, पृ० १०१, पर उद्धृत

तथा मरीचिप्रोक्त आनन्दसंहिता (वैखानस आगम) में—

वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात् ।
तयोर्वैखानसं श्रेष्ठमैहिकामुष्मिकप्रदम् ॥
वैखानसेन तन्त्रेण देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
अर्चनं सर्वशान्त्यर्थं राजराष्ट्रविवर्धनम् ॥
तान्त्रिकं पूजनं चैव राजराष्ट्रविनाशकम् ।

ल० तं० उ०, पृ० ७

निन्दा-वचन या तो प्रक्षिप्त हैं, या अपने अपने आगमों के प्राशस्त्य-परक हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1]

पाञ्चरात्र प्रामाण्य

शङ्कर ने पाञ्चरात्र आगमों को अप्रामाणिक सिद्ध किया है।[2] विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में शङ्कर-भाष्य के उक्त कथन का बलपूर्वक खण्डन किया है।[3] और इस प्रकार रामानुज ने पाञ्चरात्र आगमों की प्रामाणिकता सिद्ध की। शङ्कर और रामानुज के मत इस विषय में सर्वथा विरुद्ध हैं। अतः ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि वास्तविकता क्या है? पाञ्चरात्र-शास्त्र प्रामाणिक है या अप्रामाणिक। शङ्कर के मतानुसार पाञ्चरात्र आगमों में जीवोत्पत्ति, अनेकेश्वरकल्पना, तथा बेद की निन्दा दिखायी देती है। यह सब वेदविरुद्ध है। अतः इन आगमों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पाञ्चरात्र-प्रक्रिया के अनुसार परब्रह्म वासुदेव से सङ्कर्षण नामक जीव की उत्पत्ति होती है, सङ्कर्षण से प्रद्युम्न नामक मन की, तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध

१—परस्पराक्षेपवचनानि तु इक्षुभक्षवृत्तिचिकीर्षुभिरसहिष्णुभिरुपक्षिप्तानि वा स्वशास्त्रप्रशंसार्थवादरूपाणि वेति न ततो विरोधः।

न्या० प०, शब्द, पृ० १६९

तथा—यानि च पाद्मपारमेश्वरादिषु अतिवादवचनानि तानि नूनमिक्षुभक्षकर्तृचिकीर्षुभिः प्रक्षिप्तानि परस्परस्थानाक्रमणलोलुपैः वटुभिर्वा-पूजकाधमैर्निशेवितानि।

पां० र०, पृ० १०१

२—तत्र भागवता मन्यन्ते-भगवानेवैको वासुदेवो...वेदप्रतिषेधश्च भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानिति इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम्।

ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, २।२। ४२-४५

३—विप्रतिषिद्धा हि जीवस्योत्पत्तिः .. ..

सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसामनाकलिततदुपबृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्र-विजृम्भितम्।

श्रीभाष्य, २।२।४२

नामक अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर शङ्कर की आपत्ति यह है कि वासुदेव से सङ्कर्षण नाम के जीव की उत्पत्ति सर्वथा अप्रामाणिक है। इससे अनित्यत्व आदि दोष आ जाते हैं तथा वेदविरोध भी है।[1] रामानुज का कहना है कि इस प्रकार के दोष का उद्‌घाटन भागवत-प्रक्रिया को न जानने वाले ही कर सकते हैं। वासुदेव ही परं ब्रह्म है। वह स्वयं ही अपनी इच्छा से इन चार रूपों में शरणागतों के प्रति वात्सल्य के कारण स्थित होते हैं। सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः जीव, मन और अहङ्कार तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं। इसी कारण इन्हें जीव आदि कहा जाने लगा। वे स्वयं जीव आदि नहीं है।[2]

इसके अतिरिक्त शङ्कर ने अनेकेश्वर-कल्पना का भी दोष लगाया है।[3] किन्तु इस दोष के लिए भी अवकाश नहीं है। क्योंकि वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को पृथक् पृथक् नहीं माना गया है। यह सभी परं ब्रह्म के ही व्यूह रूप हैं। सूक्ष्म, मात्र षाड्‌गुण्य स्वरूप वाले वासुदेव ही परं ब्रह्म हैं। सङ्कर्षण आदि परब्रह्म वासुदेव के ही व्यूह रूप हैं। यह बात श्रुति-सङ्गत भी है—'अजायमानो बहुधा विजायते'।[4] अतः परं ब्रह्म वासुदेव ही एक ईश्वर हैं। अनेकेश्वरकल्पना पाञ्चरात्र आगमों में नहीं है।

शङ्कर पाञ्चरात्र आगमों के एकदेश को ही अप्रामाणिक मानते हैं। वेद के अनुकूल भाग को वे भी प्रामाणिक मानते हैं।[5] जो वस्तुतः वेद के विरुद्ध

१—न जायते म्रियते वा विपश्चित्।

कठ०, १।२।१८

२—तत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम् यथा आकाशप्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्।

श्रीभाष्य, २।२।४१

३—यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनाऽऽनर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेण कार्यसिद्धेः।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, २।२।४४

४—यजुर्वेद, ३१।१९

५—तत्र यत्तावदुच्यते—योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽत्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति, तन्न निराक्रियते, स

है, उसका अप्रामाण्य स्वीकार करने में पाञ्चरात्र आगमों में भी सङ्कोच नहीं किया गया है।[1]

शङ्कर ने शाण्डिल्यसंहिता की एक उक्ति के द्वारा पाञ्चरात्र आगम को वेदनिन्दक भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[2] यहाँ पर उत्तर यह दिया जाता है कि यह वाक्य पाञ्चरात्र आगम का प्रशस्तिपरक है। वेदनिन्दापरक नहीं। इस बात को पुष्ट करने के लिए रामानुज ने 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति' तथा 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि' आदि श्रुति वाक्यों के दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं।[3] यह भी स्वीकार किया जाता है कि आगमशास्त्र में वेदों का ही उपबृंहण किया गया है। वेदार्थ दुर्बोध है, उसे सुबोध बनाने के लिए ही आगमों की उत्पत्ति हुई है। इस दृष्टि से भी शाण्डिल्यसंहिता के कुछ उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं।[4]

इस प्रकार रामानुज ने शङ्कर द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों का उत्तर दिया। पाञ्चरात्र आगमों का वेदों के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है, इसलिए

एकधा भवति त्रिधा भवति (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाऽभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २।२।४२

१—पञ्चरात्रं बहुविधं बहुधा भाषितं परैः।
प्रमाणानां विरोधेन तद्यथार्थं न चेदृशम्॥

शाण्डिल्यसंहिता, १।४।७९

२—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, २।२।४५

३—श्रीभाष्य, २।२।४२

४—अधीता भगवन् वेदास्साङ्गोपाङ्गास्सविस्तराः।
श्रुतानि च मयाऽङ्गानि वाकोवाक्ययुतानि च॥
न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना क्वचित्।
श्रेयो मार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति॥
तथा
वेदान्तेषु यथासारं सङ्गृह्य भगवान् हरिः।
भक्तानुकम्पया विद्वान् सञ्चिक्षेप यथासुखम्॥

श्रीभाष्य, २।२।४२

पाञ्चरात्र आगम प्रामाणिक हैं। पाञ्चरात्र आगम स्वतन्त्र आगम नहीं हैं। इसके मूल में श्रुति है। इसके लिए प्रायः निम्नलिखित वचन उदाहृत किया जाता है:—

श्रुतिमूलमिदं तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्।[1]

पाञ्चरात्र आगमों की श्रुति (एकायन) मूलकता

पाञ्चरात्र संहिताएं प्रायः अपने लिए वेदमूलक होने की घोषणा करती हैं। ये संहिताएं कहीं भी वेदबाह्य या स्वतन्त्र होने की बात नहीं कहती हैं। सर्वत्र उनका कथन यही है कि वे वेदों की ही उपबृंहण हैं।[2] पाञ्चरात्र आगमों की मूलभूत श्रुति का नाम एकायनश्रुति या एकायनवेद है। इसे शुक्लयजुर्वेद की शाखाओं के अन्तर्गत माना जाता है। पाञ्चरात्र आगमों में इस वेद की महिमा का बहुत गान किया गया है।[3] एकायन शब्द का अर्थ है–(मोक्ष के

१—न्या० प०, शब्द, द्वि० पृ० १३८

२—मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्॥

ईश्वरसंहिता, १।५०

३—वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम्॥

श्रीप्रश्नसंहिता, २।३८

पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः।
समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा सुदारुणम्॥
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात्सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्॥
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवोपगायनम्।
मौञ्जायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत् पुरा॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।

ईश्वरसंहिता, १।३८-४१, ४३

तथा

ऋग्वेदं पूर्वदिग्भागे यजुर्वेदं च दक्षिणे।
पश्चिमे सामवेदं स्यादाथर्वं चोत्तरे भवेत्॥

लिए) एक ही मार्ग का होना। इस अर्थ का प्रतिपादन ईश्वर संहिता में किया गया है।[१] पुरुषसूक्त भी इसी अर्थ की ओर सङ्केत करता है।[२]

एकायनशाखा प्राप्य नहीं है, अतः सन्देह होता है कि कहीं यह कल्पित तो नहीं है। यद्यपि पाञ्चरात्र संहिताओं में एकायनशाखा विषयक बहुत से प्रमाण हैं. किन्तु उन्हें तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पाञ्चरात्र आगमों का प्रामाण्य सिद्ध हो। अभी तो पाञ्चरात्र-प्रामाण्य स्वयं साध्यकोटि में आता है। अतः पाञ्चरात्र संहिताओं के आधार पर एकायनशाखा के विषय में कुछ कहना युक्तिसङ्गत नहीं। दोनों अन्योन्याश्रित हो जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में एकायनशास्त्र का उल्लेख है।[३] शङ्कर ने अपने भाष्य में एकायन का अर्थ नीतिशास्त्र किया है।[४] किन्तु शङ्कर का यह अर्थ सबको स्वीकार नहीं है। यह कहना असङ्गत भी नहीं कि यहाँ पर एकायन शब्द से एकायन शाखा की ओर सङ्केत किया गया है। ऐसी शङ्का भी की जाती है कि उक्त छान्दोग्यवचन में एकायन का वेदों से पृथक् उल्लेख किया गया है, अतः उसे वेदों के अन्तर्गत मानना उचित नहीं है। किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि वेदों से पृथक् अर्थ करने का अर्थ उसका वेद में विशेष स्थान का होना

एकायनीयशाखोत्थान् मन्त्रान् सर्वासु दिक्षु च।

महाकालसंहिता से शां० सं० प्रास्ताविकम्
पृष्ठ १० पर उदाहृत

१—श्रृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्॥
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

ईश्वरसंहिता, १।१८-१९

२—तमेवं विद्वानमृतमिह भवति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

पुरुषसूक्त, १७

३—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।

छान्दोग्य० ७।१।२

४—छान्दोग्य० शां० भा० ७।१।२

है। ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

यजुर्वेद की तापनीयशाखा को भी एकायनशाखा कहा गया है। श्री परकालस्वामी ने चरणव्यूह के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार का मत प्रकट किया है।[1] किन्तु, चरणव्यूहों की संख्या इतनी अधिक है तथा पाठभेद की दृष्टि से उनमें इतना वैविध्य है कि उनमें से कौन सी प्रति प्रामाणिक है, यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः इस प्रकार के किसी चरण-व्यूह के पाठभेद के आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। सम्भव है कि तापनीयशाखा ही एकायन हो, किन्तु इसे कहने के लिए किसी अन्य आधार को ढूँढना होगा। और फिर प्रकाशित और अधिकांश अप्रकाशित चरण-व्यूहों में एकायनशाखा का कहीं उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता।

यह भी एक मत है कि काण्वशाखा ही एकायनशाखा है। काण्व शाखामहिमासंग्रह में नागेश ने ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है।[2] ईश्वरसंहिता भी इसी मत को पुष्ट करती है।[3] पाञ्चरात्र आगमों को देखने से ज्ञात होता है कि एकायनशाखा तथा काण्वशाखा में कुछ साम्य तो अवश्य रहा होगा, किन्तु दोनों एक हैं, इसमें पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते हैं। दोनों में

१—(च० व्यू०) शाखाविभागे च तापनीयेति अस्या एव नामभेद उत्की-तितस्स्यात्। (च० व्यू०) ता (प) पायनीयाः–इति अन्यत्र ताम्रायणः, इति वाजसनीयशाखाध्यायि मैत्रायणशाखाविभागे च षड्भेदाः सप्त-भेदाः, इति च (च० व्यू०) पाठभेदाः (वै--वा) दृश्यन्ते। (मै) ऐकेयाः, एकायनाः इति (च० व्यू०) लिखितकोशेषु पाठभेदश्चोपलभ्यते।

हय० उ० व्याख्या, पृ० ११, १२

२—इयं शुक्लयजुःशाखा प्रथमेत्यभिधीयते।
मूलशाखेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च॥
अयातयामयजुषा तथा मोक्षैकसाधिका।
इत्याद्यनेकनामानि सन्त्यस्यास्तत्र तत्र वै॥

ल०त०उ०, पृ० ६ पर उद्धृत

२—काण्वीं शाखामधीयानान् वेदवेदान्तपारगान्।
संस्कृत्य दीक्षया सम्यक् सात्वताद्युक्तमार्गतः॥

ईश्वरसंहिता, २५।९४

साम्य का जहाँ तक प्रश्न है,वह कर्मकाण्ड को लेकर ही प्रतीत होता है। पाञ्चरात्र आगम की जयाख्यसंहिता के उद्धरणों से भी कुछ ऐसी ही धारणा बनती है।[1]

सात्त्वतसंहिता का वचन है—

एकायनान् यजुर्मयानाश्रावि तदनन्तरम्।[2]

इससे इतना तो अवश्य निश्चित हो जाता है कि एकायनवेद में यजुर्वेद के मन्त्र थे। यह यजुर्वेद की शाखा भी हो सकती है अथवा मात्र मन्त्रों का संग्रह रूप ग्रन्थ।

एकायनवेद और रहस्याम्नाय

एकायन वेद को रहस्य आम्नाय भी कहते हैं। पाञ्चरात्र आगमों में दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[3] अतः महाभारत में जब रहस्य शब्द का प्रयोग होता है तो किसी अन्य अर्थ की सम्भावना नहीं करनी चाहिए।[4] पण्डित भगवद्दत्त ने शास्त्रों में बहुप्रयुक्त रहस्य शब्द का अर्थ

१—काण्वीं शाखामधीयानौ औपगायनकौशिकौ।
प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ॥
... ...
इमौ च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः।
श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् कर्मणि मम॥
जया० सं०, १।१०९–११६

२—सात्त्वतसंहिता, २५।९४

३—आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नायसंज्ञितम्
ईश्वरसंहिता, २१।५३१

तथा—श्रुत्वैवं प्रथमं शास्त्रं रहस्याम्नायसंज्ञितम्।
दिव्यतन्त्रक्रियोपेतं मोक्षैकफललक्षणम्॥
पारमेश्वरसंहिता, ज्ञा०, १।१६

४—सर्वे वेदास्सरहस्या हि पुत्र...
म० भा०, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, ३६१।२१

आरण्यक अथवा उपनिषद् बताया है।[1] अपने इस मत की स्थापना उन्होंने निम्नलिखित प्रमाणों के आधार पर की है :—

(१) रहस्यं आरण्ये पठितव्यो ग्रन्थो यः तं

बौ० धर्मसूत्र मस्करीभाष्य, २।८।३

(२) उपनिषदं रहस्यशास्त्रम्

काठक गृ० सू०, देवपालभाष्य, १०।१

इनमें द्वितीय उद्धरण से तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता। हां, एकायन-शाखा के पक्ष में इसका ग्रहण अवश्य किया जा सकता है। एकायनशाखा को पाञ्चरात्रश्रुति या पाञ्चरात्रोपनिषद् कहने की परम्परा भी प्राप्त है।[2] किन्तु रहस्य शब्द का अर्थ उपनिषद् मानने का उल्लेख कहीं और प्राप्त नहीं होता है। अतः इस उद्धरण के आधार पर कुछ निश्चित रूप से कहना अनुचित होगा। इसी प्रकार द्वितीय उद्धरण के आधार पर उन्होंने रहस्य का अर्थ आरण्यक किया है। प्रथम तो ऐसी कोई परम्परा नहीं है, और दूसरे 'रहस्यं आरण्यकम्' न कहकर अरण्य में पढ़ने योग्य कहा गया है। इस प्रकार बह्वर्थक हो जाता है यह वाक्य, फिर एक आरण्यकपरक अर्थ कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं। यदि वह प्रथम उद्धरण के अनुसार आरण्यक है, तो निस्सन्देह उपनिषद् अर्थपरक द्वितीय उद्धरण निरर्थक हो जाता है, और यदि द्वितीय उद्धरण ठीक है, तो प्रथम निरर्थक हो जाता है। अतः केवल उपर्युक्त दो उद्धरणों के आधार पर रहस्य शब्द का आरण्यक अथवा उपनिषद् परक अर्थ करना ठीक नहीं है।

रहस्य शब्द का और कुछ अर्थ हो या न हो, इतना निश्चित है कि इसका एक अर्थ एकायनशाखा है। पाञ्चरात्रशास्त्र में तो रहस्य शब्द का अर्थ यही समझा गया है।

अतः पाञ्चरात्र परम्परा के अनुसार जब 'सर्वे वेदास्सरहस्याः' कहा जाता है तो इसका अभिप्राय यही है कि वेद शब्द से एकायनशाखा सहित वेदों का ही ग्रहण होता है, न कि एकायनशाखा से रहित वेदों का। इस प्रकार

१—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १००

२—पाञ्चरात्रश्रुतावपि · ···

स्पन्दप्रदीपिका, (उत्पलकृत), पृ० २, पंक्ति १६

तथा—पाञ्चरात्रोपनिषदि च·····

वही, पृ० ३९, पंक्ति २७

एकायन शाखा के वेदों के अन्तर्गत होने के कारण तन्मूलक पाञ्चरात्र आगमों की वेदबाह्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

इसी प्रसङ्ग में एक बात और विचारणीय प्रतीत होती है कि प्रायः वेदों का उल्लेख करने के बाद एकायनशाखा का उल्लेख किया जाता है। यदि यह एकायन शाखा वेद से प्रथक् है, तब ऐसा व्यवहार करना सर्वथा उचित है, किन्तु यदि वेद के अन्तर्गत ही आती है, तो पृथक् उल्लेख सर्वथा असङ्गत होता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत भारतवचन ही है—

सर्वे वेदास्सरहस्या हि पुत्र[1]...

यहाँ पर वेदों और रहस्य (आम्नाय) का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार से छान्दोग्य उपनिषद् के प्रसिद्ध वाक्य में भी वेदों से पृथक् एकायन का उल्लेख किया गया है।[2] इसी प्रकार से पाञ्चरात्र आगम की ही जयाख्यसंहिता के अन्दर इसी प्रकार का प्रयोग किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर वेदों का उल्लेख करने के पश्चात् एकायन का उल्लेख किया गया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एकायन-शाखा वेदों से सर्वथा विलक्षण और स्वतन्त्र थी। साथ ही उसमें वेद विरुद्ध विषय का प्रतिपादन भी नहीं था। यदि वह वेदविरुद्ध होती तो प्रशस्तिपरक वचनों के स्थान पर उसके निन्दापरक वचन अधिक दिखाई देते। छान्दोग्य उपनिषद् में जो वेद और एकायन का पृथक् उल्लेख है, उसका उत्तर देते हुए कहा जाता है कि एकायन शाखा के माहात्म्य को बताने के लिए ब्राह्मणपरि-व्राजकन्याय से उसका वेदों से पृथक् उल्लेख किया गया है। श्रुतप्रका-

---

१—म० भा० शान्तिपर्व, मोक्ष, ३६१।२१

२—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं......दैवं निधिं वाकोवाक्य-मेकायनं देवविद्यामिति।

छान्दोग्य०, ७।१।२

३—ऋङ् मन्त्रान्पाठयेत्पूर्वं वीक्ष्यमाणमुदग्दिशम्।
यजुर्वेदं वैष्णवं यत् पाठयेत् देशिकस्तु सः ॥
गायेत् सामानि शुद्धानि सामशः पश्चिमस्थितः।
भक्तश्चोदस्थितो ब्रूयात् दक्षिणस्थो ह्यथर्वकम् ॥
....
एकायनीयशाखोत्थान् मन्त्रान् परमपावनान् ॥

जया० सं०, २०।२६२, २६३, २६९

शिकाकार सुदर्शनसूरि का यही मत है।[1] यदि केवल छान्दोग्य उपनिषद् में ही एकायन शाखा का वेदों से पृथक् वर्णन होता, तो ब्राह्मणपरिव्राजक-न्याय किसी प्रकार स्वीकार्य था, किन्तु कई ग्रन्थों में, कई स्थलों पर पृथक् उल्लेख करने का अभिप्राय एकायनशाखा का माहात्म्य बताना न होकर उसका वेदों से पार्थक्य दिखाना होगा। अतः ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय के लिए यह स्थल उपयुक्त नहीं है।

इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि एकायनशाखा यजुर्वेद के मन्त्रों से युक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है,[2] जिसमें वेदविरुद्ध विषय का प्रतिपादन नहीं किया गया है। पाञ्चरात्र आगमों का मूल यही एकायन शाखा है। अतः पाञ्चरात्र आगम भी वेदविरुद्ध नहीं कहे जा सकते हैं।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय को मानने वाले व्यक्तियों को भागवत, सात्वत, एकान्तिन्, और परमैकान्तिन् भी कहा जाता है।[3] महाभारत में भागवत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि द्वादशाक्षर मन्त्र के जानने वाले, चतुर्व्यूह विभाग के ज्ञाता तथा छिद्ररहित पञ्चकाल क्रम के जानने वाले को भागवत कहते हैं।[4] सात्वत, एकान्तिन् और परमैकान्तिन् शब्दों से भी पाञ्चरात्र सम्प्रदाय-निष्ठों का ही बोध होता है।

१—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमित्यादि एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यामित्यन्तश्रुतिसन्दर्भे ऋग्वेदादेः पृथक् पठितस्याप्येकायनस्य ब्रह्मविद्याया इव ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन श्रैष्ठ्यात् पृथगुपादानोपपत्तेः।
श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिका, २।२।४२

२—जया० सं०, २०।२६९, तथा 'एकायनान् यजुर्मयानाश्रावि तदनन्तरम्'।
सात्त्वतसंहिता, २५।९४

३—सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्।
एकान्तिकश्च तन्मयश्च पञ्चरात्रिकं इत्यपि॥
पाद्मसंहिता, ४।२।८८

४—द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञः चतुर्व्यूहविभागवित्।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स वै भागवतः समृतः॥
म० भा०, आश्व०, ११८।३३

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है। ब्रह्मा के सात जन्म माने गये हैं—१. मानस, २. चाक्षुष, ३. वाचिक, ४. श्रावण, ५. नासिक्य, ६. अण्डल, ७. पङ्कज।[१] यह सृष्टि पङ्कज ब्रह्मा की है। महाभारत के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय की प्राचीनता का वर्णन है[२]। प्रत्येक सृष्टि में इस ज्ञान का उपदेश और प्रचार हुआ है। प्रत्येक सृष्टि में अथवा ब्रह्मा के प्रत्येक जन्म में इस ज्ञान के उपदेशकों की परम्परा को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है :—

१. मानसजन्म

नारायण
फेनपा ऋषिगण
वैखानस
सोम

२. चाक्षुषजन्म

सोम
ब्रह्मा
रुद्र
बालखिल्य ऋषि

१—त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम्।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम्॥
त्वत्प्रसादात्तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत्।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो॥
नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम्॥
इदञ्च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जितः।
वही, शान्ति०, मोक्ष०, ३४७।४०-४३

२—वही, ३४८। १३-४८

३. वाचिकजन्म

- नारायण
- सुपर्ण
- वायु
- विघसाशी ऋषिगण
- महोदधि

४. श्रावणजन्म

- नारायण
- ब्रह्मा
- स्वारोचिष मनु
- शङ्ख पद
- सुवर्णाभ

५. नासिक्यजन्म

- नारायण
- ब्रह्मा
- सनत्कुमार
- वीरण प्रजापति
- रैभ्य
- कुक्षि

६. अण्डज-जन्म

- नारायण
- ब्रह्मा
- बर्हिषद्
- ज्येष्ठ
- अविकम्पन

७. पङ्कज-जन्म

- नारायण

ब्रह्मा
प्रजापति दक्ष
आदित्य
विवस्वान्
मनु
इक्ष्वाकु

अतः न केवल वर्तमान सर्ग में ही इस धर्म की प्राचीनता है, अपितु पूर्व सर्गों में भी इसी धर्म का सर्वप्रथम उपदेश किया गया है। ब्रह्मा के वाचिक जन्म के अन्तर्गत उल्लेख है कि इस धर्म को नारायण से सुपर्ण नामक ऋषि ने प्राप्त किया। त्रिसौपर्ण नामक व्रत इन्हीं के नाम से विख्यात है। इस व्रत के विषय में कहा गया है कि यह ऋग्वेद पाठ में पढ़ा गया है और कठिन है—

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम[1]

इस उक्ति से पाञ्चरात्र धर्म का ऋग्वेद के अनुकूल होना ज्ञात होता है।

भगवद्गीता की पाञ्चरात्रपरायणता

इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भगवद्गीता में कृष्ण ने अर्जुन को इसी पाञ्चरात्र ज्ञान का ही उपदेश प्रदान किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में इस प्रकार की स्वीकारोक्ति है।[2] गीता में जिस उपदेश परम्परा का उल्लेख है[3] उससे पङ्कजजन्म की परम्परा का साम्य देखते हुए यही निश्चय होता है कि गीता पाञ्चरात्र-परक है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी यह स्वीकार किया गया है कि कृष्ण ने अर्जुन को गीता में

१—वही, ३४८।२०

२—कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥
नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससङ्ग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥

वही, ३४८।५३-५४

३—इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

गीता, ४।१

पाञ्चरात्र का ही उपदेश किया है। जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा कि निश्चय ही यह धर्म (पाञ्चरात्र) श्रेष्ठ है, और नारायण को प्रिय है, फिर भी इस धर्म का किस ऋषि अथवा देव ने उपदेश किया ?[१] इस प्रश्न का उत्तर द्रष्टव्य है—

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥[२]

इस प्रकार वासुदेव द्वारा प्रवर्तित पाञ्चरात्र तथा वासुदेव कृष्ण द्वारा उपदिष्ट भगवद्गीता में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं। गीता में पाञ्चरात्र के कुछ विषय जो नहीं दिखायी देते हैं, उसमें गीता का संक्षिप्त होना ही कारण है। 'कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः[३] कथन से भी गीता का संक्षिप्त होना सिद्ध होता है।

पाञ्चरात्र-प्रतिपादक महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्षधर्म में तथा भगवद्गीता में एकरूपता है, यह बात ईशोपनिषद् भाष्य में शङ्कराचार्य ने स्वीकार की है।[४] अतः यह कहा जा सकता है कि जितनी प्रामाणिक भगवद्-गीता है, पाञ्चरात्र-आगम भी उतने ही प्रामाणिक हैं। सांख्य, योग आदि के प्रवर्तक जहां कपिल, हिरण्यगर्भ तथा ब्रह्मा के पुत्र शिव आदि हैं वहाँ सम्पूर्ण पाञ्चरात्र का उपदेश करने वाले साक्षात् नारायण हैं।[५] इस कारण पाञ्चरात्र-आगमों का प्रामाण्य सर्वाधिक है। जब सप्त-चित्रशिखण्डियों ने इस

१—नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।
....
केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा।
एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो।
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ॥
म० भा०, शान्ति०, मो०, ३४८।४, ६, ७

२—वही, ३४८।८

३—वही, ३४८।५३

४—गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्।
ईशोप० शाङ्करभाष्य, सम्बद्धभाष्य

५—पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
म० भा०, शान्ति०, मोक्ष०, ३४९।६८

शास्त्र को कहा तो भगवान् ने स्वयं उसकी प्रामाणिकता की घोषणा की। यह विषय भी महाभारत का ही है।[१]

डॉ० एस० कृष्णस्वामी आयंगार परमसंहिता की भूमिका में लिखते हैं कि गीता का उपदेश करने वाले कृष्ण स्वयं पाञ्चरात्र-मतावलम्बी थे।[२] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार कृष्ण ऋषि घोर आङ्गिरस के शिष्य थे।[३] निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आङ्गिरस गोत्र के प्रवर्तक ऋषि कौन थे। बहुत सम्भव है कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध ऋषि कृष्ण आङ्गिरस इसके प्रवर्तक हों।[४] इन ऋषि आङ्गिरस के तीन पुत्र थे–वृहस्पति, उतथ्य, और सम्बर्त।[५]

वृहस्पति पाञ्चरात्र के प्रमुख आचार्य थे। इनसे आरम्भ होने वाली परम्परा में ही छान्दोग्य उपनिषद् में कहे गये घोर आङ्गिरस आ सकते है। इससे यह सिद्ध होता है कि देवकीपुत्र कृष्ण ने पाञ्चरात्र की शिक्षा घोर-आङ्गिरस से प्राप्त की, और उसी का उपदेश गीता में किया है। डॉ०आयंगार

१—प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतत् भविष्यति।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथवाङ्गिरसैस्तथा॥
यथाप्रमाणं हि मया कृतः ब्रह्माप्रसादतः।
....
सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम्॥
भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम्।

वही, ३३५।४०, ४१, ४४

२—Presumably therefore Krishṇa Devakīputra had learnt this Bhāgvata teacvhing, whatever that be, from Ghora Āṅgirasas of the school of Pāñcarātra.

परमसंहिता, Introduction.

३—तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायाम्... छान्दोग्य०, ३।१७।६

४—ऋग्वेद, ८।८५

५—बृहस्पतिरुतथ्यश्च सम्बर्तश्च जितेन्द्रियः।
त्रयश्चाङ्गिरसः पुत्राः वेदवेदाङ्गपारगाः।

ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति० ५९

की कल्पना तर्क-सङ्गत नहीं प्रतीत होती हैं, क्योंकि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बृहस्पति किस सम्प्रदाय के मानने वाले थे। चार्वाक-दर्शन के प्रवर्तक के रूप में तो बृहस्पति विख्यात हैं ही, जैन सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है।[1] अतः उपर्युक्त कथन सबल नहीं है। कृष्ण व्यक्तिगत रूप से किस सम्प्रदाय के मानने वाले थे, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु गीता अवश्य पाञ्चरात्र परक है। गीता में जिस विषय का वर्णन है वह पाञ्चरात्र के अनुकूल ही है।

पाञ्चरात्र-शास्त्र के भेद

सम्पूर्ण पाञ्चरात्र-शास्त्र मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित है १–दिव्य, २–मुनिभाषित, और ३–मानुष। जिस शास्त्र का साक्षात् नारायण ने उपदेश किया, उसे दिव्य-शास्त्र कहते हैं। नारायण के अतिरिक्त अन्य ब्रह्मा आदि ऋषियों ने जिनका उपदेश किया, वह शास्त्र मुनिभाषित कोटि में आता है। उन ऋषियों से भिन्न आप्त मनुष्यों ने जिस पाञ्चरात्र-साहित्य का सृजन किया, वह मानुषभेद के अन्तर्गत आता है। सात्त्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, तथा पौष्करसंहिता दिव्यशास्त्र कोटि में आती है।[2] इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं। ईश्वर, पारमेश्वर, भारद्वाज, अत्रि, आदि संहिताएं मुनिभाषित हैं।[3] केवल

१—ततो बृहस्पतिः शक्रमकरोद् बलदर्पितम्।
ग्रहशान्तिविधानेन पौष्टिकेन च कर्मणा॥
गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित्॥
वेदत्रयीं परिभ्रष्टांश्चकार धिषगाधिपः।
वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान्॥

मत्स्यपुराण, २४।४६-४८

२—सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च॥
एवमादीनि दिव्यानि शास्त्राणि हरिणा स्वयम्।
मूलवेदानुसारेण प्रोक्तानि हितकाम्यया॥

ईश्वर संहिता, १।६४, ६५

३—वासुदेवेन यत्प्रोक्तं शास्त्रं भगवता स्वयम्।
अनुष्टुप्छन्दोबन्धेन समासव्यासभेदतः॥

मनुष्यों ने जिस शास्त्र की रचना की, उसे मानुष या पौरुष कहते हैं ।[१] किन्तु मानुषशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्यगत दोष की सम्भावना सर्वदा बनी रहती है । अतः इस शास्त्र का वह अंश ही ग्राह्य है, जो दिव्य और मुनि-भाषित शास्त्र के विरुद्ध न हो ।[२]

ये हैं पाञ्चरात्र आगमों के प्रमुख तीन भेद । इनमें द्वितीय मुनिभाषित के तीन अवान्तर भेद हैं—१–सात्त्विक, २–राजस, ३–तामस ।[१] नारायण से एक भाग को सुन कर अन्य भाग अपने योग की महिमा से सङ्कलन करके ब्रह्मा रुद्र आदि के द्वारा, अथवा उनके शिष्यों के द्वारा, जिस शास्त्र की रचना की गयी, उसे राजस कहते हैं । ईश्वर से ग्रहण न करके केवल सत्त्वयोग के द्वारा रचित शास्त्र को तामस कहते हैं । ये मुनिभाषित के तीन अवान्तर भेद हैं ।[२] पाञ्चरात्ररक्षा के अन्तर्गत वेदान्तदेशिक ने मुनिभाषित के इन तीन भेदों का उल्लेख संहिताओं के नाम निर्देश पूर्वक किया है ।[३]

तथैव ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रमुखैश्च प्रवर्तितम् ।
लोकेष्वपि च दिव्येषु तद्दिव्यंमुनिसत्तमाः ॥
ब्रह्मरुद्रप्रमुखैर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
स्वयं प्रणीतं यच्छास्त्रं तज्ज्ञेयं मुनिभाषितम् ॥ वही, १।५४।५६

१—केवलं मनुजैर्यत्तु कृतं तन्मानुषं भवेत् ।
पां० र० प्रथमाधि० में उदाहृत

२—सर्वत्र पौरुषे वाक्ये ग्राह्यमविरोधि यत् ।
केवलं तद्विधानेन न कुर्यात् स्थापनादिकम् ॥ वही

३—एतत्तु त्रिविधं विद्धि सात्त्विकादिविभेदतः ।
ईश्वरसंहिता, १।५७

४—साक्षाद् भगवतः श्रुतार्थमन्त्रनिबन्धरूपं शास्त्रं सात्त्विकम्, भगवतः श्रुतमेकदेशं स्वयोगमहिमसिद्धं चाशेषं सङ्कलय्य ब्रह्मादिभिस्तच्छिष्यैश्च प्रणीतं शास्त्रं राजसम्, केवलसत्त्वयोगविकल्पोत्थैरर्थैः कृतं शास्त्रं तामस-मिति मुनिभाषितस्य त्रैविध्यमुक्त्वा··· ।
पां० र०, प्रथमाधि०

५—ईश्वरभारद्वाजसौमन्तपारमेश्वरवैहायसचित्रशिखण्डिसंहिताजयोत्तरादीनि सात्त्विकानि, सनत्कुमारपद्मोद्भवशातातपतेजोद्रविणमायावैभविकादीनि राजसानि, पञ्चप्रश्नशुकप्रश्नतत्त्वसागरादीनि तामसानि इति । वही

मुनिभाषित शास्त्र के तीनों भेदों में सात्त्विक को उत्तम, राजस को मध्यम तथा तामस को अधम की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह बात वेदान्त-देशिक ने साङ्कर्य-निवारण के प्रसङ्ग में कही है।[१]

इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार से भी पाञ्चरात्र-साहित्य का विभाजन किया गया है। इसके अनुसार पाञ्चरात्र—१–आगम, २–मन्त्र, ३–तन्त्र और ४–तन्त्रान्तर—इन चार भागों में विभक्त है।[२] श्रीकरसंहिता में इन्हीं चारों को दूसरी संज्ञाएं प्रदान की गयी हैं, यथा—आगम के लिए वेदसिद्धान्त, मन्त्र के लिए दिव्यसिद्धान्त, तन्त्र के लिए तन्त्रसिद्धान्त तथा तन्त्रान्तर के लिए पुराणसिद्धान्त।

उपर्युक्त चारों प्रकार के शास्त्रों को एक और संज्ञा प्रदान की गयी है। १–आगमसिद्धांत को स्वयंव्यक्त, २–मन्त्रसिद्धांत को दिव्य, ३–तन्त्रसिद्धांत को सैद्ध, तथा ४–तन्त्रान्तरसिद्धान्त को आर्ष की संज्ञायें प्रदान की गयी हैं। श्रीकालोत्तरसंहिता के अन्तर्गत आगम आदि चार सिद्धान्तों का वर्णन करने

१—मुनिभाषितेषु त्रिषु शास्त्रेषूत्कृष्टमध्यमाधमसंज्ञानिर्दिष्टेषु

वही

२—चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः।
पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्।
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यत्तन्त्रान्तरं भवेत्॥

ईश्वरसंहिता, २१।५६०,५६१

कालोत्तरसंहिता में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—
अनेकभेदभिन्नं च पाञ्चरात्राख्यमागमम्।
पूर्वमागमसिद्धान्तं मन्त्राख्यं तदनन्तरम्।
तन्त्रं तन्त्रान्तरं चेति चतुर्धा परिकीर्तितम्॥

पां० र०, प्रथमाधि० में उदाहृत

हयग्रीवसंहिता में इन चारों सिद्धान्तों के फल भी बताये गये हैं—
आगमाख्यं हि सिद्धान्तं सन्मोक्षैकफलप्रदम्।
मन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं सिद्धिमोक्षप्रदं नृणाम्॥
तन्त्रसंज्ञं हि सिद्धान्तं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
तन्त्रान्तरं तु सिद्धान्तं वाञ्छितार्थफलप्रदम्। वही

के पश्चात् इन अन्य चार संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है ।[1]

इनमें स्वयंव्यक्त तथा दिव्य उत्कृष्ट फल को देने वाले हैं, अतः उत्कृष्ट शास्त्र हैं । इन्हीं के द्वारा आराधना आदि की जानी चाहिए ।[2]

पाञ्चरात्र शास्त्र और उसके उपर्युक्त भेदों को निम्न सारणी से स्पष्ट किया जा सकता है ।
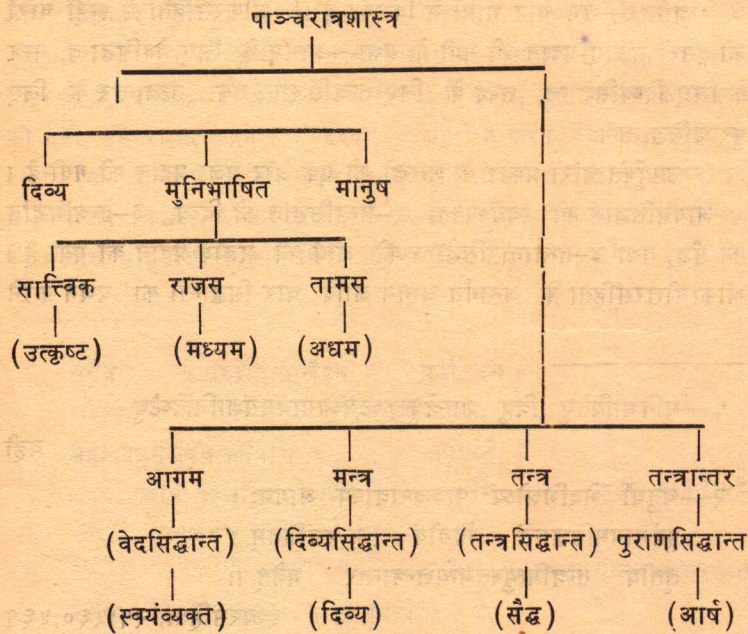
१—चतुर्धा भेदभिन्नं च स्वयंव्यक्तादिभेदतः ।
स्वयंव्यक्तं हि सिद्धान्तमागमाख्यं पुरोदितम् ॥
मन्त्रसिद्धान्तसंज्ञं यत्तद्दिव्यं परिकीर्तितम् ।
तन्त्रसंज्ञं हि यच्छास्त्रं तत्सैद्धं समुदाहृतम् ॥
तन्त्रान्तरं तु यत्प्रोक्तमार्षं तु तदुदाहृतम् ॥ वही

२—तस्मात्पूजा न कर्तव्या तन्त्रतन्त्रान्तराध्वना ।
— — — — —
तद्विधानं परित्यज्य स्वयंव्यक्तोक्तवर्त्मना ।
दिव्योक्तवर्त्मना कार्यं पूजनं प्रतिमासु च ॥

इस अत्यन्त विस्तृत पाञ्चरात्र-साहित्य के अन्तर्गत रत्नत्रय नाम से विख्यात सात्त्वत, पौष्कर और जयाख्य संहिताएं ही प्रधानतम हैं। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण पाञ्चरात्र-साहित्य इन्हीं तीन संहिताओं की व्याख्या है।[1]

पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ

पाञ्चरात्र संहिताओं के अन्तर्गत पाञ्चरात्र शब्द का निर्वचन विविध प्रकार से किया गया है। ईश्वरसंहिता के अनुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक और भारद्वाज, इन पांच ऋषियों के तप से प्रसन्न हुए नारायण ने उन्हें इस शास्त्र का उपदेश पांच अहोरात्रों में किया था, इसी कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र की संज्ञा प्रदान की गयी है।[2] मार्कण्डेय संहिता में भी यही बात कही गयी है।[3] महाभारत के अनुसार सांख्य, योग, वेद, आरण्यक सब मिला कर पाञ्चरात्र कहे जाते हैं।[4] पञ्चभूत,

---

स्वयंव्यक्तं तथा दिव्यमुत्कृष्टफलदं यतः।
तस्मादुत्कृष्टशास्त्रोक्तमार्गेणैव प्रपूजयेत् ॥ वही

१—सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्।
... ...
सारं सात्त्वतशास्त्रस्य रहस्यं प्राज्ञसम्मितम् ॥
... .
अन्यानि तु तन्त्राणि, भगवन्मुखनिर्गतम्।
सारं समुपजीव्यैव समासव्यासधारणैः ॥
व्याख्योपबृंहणन्यायाद् व्यापितानि तथा तथा। जया० सं०, १

२—पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः।
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः ॥
... ...
पञ्चापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास यतस्ततस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ॥ ईश्वरसंहिता,
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पाञ्चरात्रमितीर्यते ॥ २१।५१९, ५३२, ५३३

३—सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तेन विष्णुना।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पञ्चरात्रमतः स्मृतम् ॥ पां० २०

४—एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते।
म० भा०, शान्ति, मोक्ष०, ३४८।८१-८२

पञ्च तन्मात्र, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त, इन पांच को पुरुष की रात्रि कहा गया है, अतः इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहा जाता है। यह कथन परमसंहिता का है।[1] नारद पाञ्चरात्र के अनुसार रात्र शब्द का अर्थ है—ज्ञान। ज्ञान पांच प्रकार का कहा गया है—तत्त्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, यौगिक और वैशेषिक। इस कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहा जाता है।[2] शाण्डिल्य-संहिता के अनुसार सांख्य, योग, शैव, वेद और आरण्यक की रात्रि संज्ञा है। किन्तु इन पांचों का प्राप्य आनन्द इसी शास्त्र से प्राप्त होता है। इस कारण इसे पाञ्चरात्र कहा जाता है।[3] पाद्मसंहिता के अनुसार सांख्य आदि पांच शास्त्र जिसके सम्मुख अपनी व्यर्थता के कारण रात्रि के समान हो जाते है, उसे पाञ्चरात्र शास्त्र कहते हैं।[4]

पर, व्यूह, विभव और अर्चा ये ईश्वर के चार रूप पाञ्चरात्र आगमों में प्रसिद्ध हैं। किन्तु कहीं कहीं पर अन्तर्यामि-रूप भी माना गया है। इस प्रकार

१—महाभूतगुणाः पञ्चरात्रयो देहिनः स्मृताः ॥
तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
रात्रयः पुरुषस्योक्ताः पञ्चरात्रं ततः स्मृतम् ॥

परमसंहिता, १।३९-४१

२—रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
तेनेदं पञ्चरात्रं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

शाण्डिल्यसंहिता, प्रास्ताविकम् में उद्धृत

३—सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम् ।
प्रोच्यते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ।
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र समवाप्यते ।
परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥
प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्थोपदेशनम् ।
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ।

शाण्डिल्यसंहिता, १।४।७७

४—पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि ।
तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते ।

पाद्मसंहिता, १

पांच रूप भी स्वीकार किये गये हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार इसी दृष्टि से पाञ्चरात्र शब्द की सार्थकता स्वीकार की गयी है।[१] डा० श्रैडर इसी मत को अधिक उपयुक्त मानते हैं।[२]

अन्य सम्प्रदायों के प्रति असहिष्णुता भी पाञ्चरात्र आगमों में पायी जाती है।[३] इस भावना के उपहास के लिए अथवा व्यंग्य के लिए शक्ति-संगम नामक ग्रन्थ में पाञ्चरात्र का नया अर्थ कहा गया है। यथा—पांच दिन शैवों का दर्शन न करना पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय है।[४]

कुछ लोग अहोरात्र को पञ्चकाल में विभाजित करने के कारण पाञ्च-रात्र शब्द की सार्थकता सिद्ध करते हैं। उपर्युक्त सभी मत पाञ्चरात्र शब्द को सार्थक सिद्ध करने के प्रयास से प्रतीत होते हैं। डॉ० श्रैडर का मत अधिक

१—तत्परव्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम् ।
पाञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैकफललक्षणम् ।
अहिर्बु०, ११।६३, ६४

२—It appears, then, that the sect took its name from its central dogma which was the Pāñcarātra śāstra of Nārāyaṇa interpreted philosophically as the fivefold self-manifestation of God by means of His Para, Vyūha, Vibhava, Antaryāmin, and Arcā forms. This would well agree with the statement of Ahirb., Saṁh.,at the end of tne eleventh adhyāya, that the Lord Himself framed out of the original Śāstra "The system (tantra) called Pāñcarātra describing His (fivefold) nature (known) as Para, Vibhava, etc.".
I. Pāñ., pp. 25, 26.

३—बुद्धरुद्रादिवसतिं श्मशानं शवमेव च ।
अटवीं राजधानीं च दूरत: परिवर्जयेत् ॥
पां० र०, द्वि०, पृ० ११४ में शाण्डिल्यस्मृति से उदाहृत

४—पञ्चरात्रिव्रतं प्राप्त: पञ्चरात्रा: प्रकीर्तिता:
दिनपञ्चकपर्यन्तं शैवानां न विलोकनम् ॥
वर्तन्ते वैष्णवा ये च शिवनिन्दापरायणा: ॥
शक्तिसङ्गमतन्त्र, काली० ८/३५

सङ्केत है कि सर्व प्रथम पञ्चरात्र शब्द का प्रयोग शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है। वहाँ पर पञ्चरात्र नाम के पांच दिनों तक चलने वाले एक सत्र का उल्लेख है, जिसमें विष्णु के लिए यज्ञ किया जाता है। बाद में यह नाम वैष्णवों के लिए रूढ़ हो गया।[1]

पाञ्चरात्र आगम और लक्ष्मीतन्त्र

यद्यपि पाञ्चरात्र आगम शास्त्र बहुत विस्तृत है, तथापि परम्परा के अनुसार इस शास्त्र के अन्तर्गत १०८ संहिताएं मानी गयी हैं। प्रायः तन्त्रों की गणना करते समय इसी प्रकार की प्रतिज्ञा की जाती है।[2] यह बात दूसरी है कि १०८ संख्या का उल्लेख करके, उस प्रतिज्ञा का निर्वाह न किया जाय।[3]

१—शतपथब्राह्मण के निम्नलिखित उद्धरण के आधार पर डॉ० श्रैडर ने उक्त मत की स्थापना की है—

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं शतक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवदतिष्ठती सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं भवति य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद।

शतपथब्राह्मण, १३।६।१

२—एतानि नामधेयानि अष्टोत्तरशतानि च।
इत्येवं कीर्तितं विप्र मार्कण्डेयेन मे पुरा॥

कपिञ्जलसंहिता, १।२८

३—'Now, in the case of āñcarātra, tradition mentions one hundred and eight Saṁhitās, and in a few texts about this number are actually enumerated. Such lists, coquetting with the sacred number 108, are, of course, open to suspicion. The fact, however, that none of the available lists of Saṁhitās, including those which pretend to give 108 names, actually conforms to this number but all of them enumerate either more names or less.

I. Pāñ, pp. 3, 4.

कपिञ्जलसंहिता में ही १०६ संहिताओं के नाम गिनाये गये हैं। डॉ० श्रैडर ने कपिञ्जल, पाद्म, विष्णु, हयशीर्ष तथा अग्निपुराण में प्रस्तुत संहिताओं की सूची का संग्रह करके समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं की गणना करने का प्रयास किया है। कपिञ्जलसंहिता में १०६ संहिताओं का उल्लेख है, पाद्मतन्त्र में ११२ संहिताओं का, विष्णुतन्त्र में १४१ संहिताओं का, अग्निपुराण में २५ संहिताओं का तथा हयशीर्ष संहिता में ३४ संहिताओं की गणना है।[१] सब का एकत्र सङ्कलन करने पर इनकी संख्या २१० तक पहुंचती है।

'एतच्छास्त्रसम्बन्धिनः संहिताभेदाश्च पाद्ममार्कण्डेयकपिञ्जल–भारद्वाज-हयशीर्षसंहिताविष्णुतन्त्रादिषु बहुधा नामतो निर्दिश्यन्ते। ततः संगृह्यात्र तन्नामानि परिगण्यन्ते'[२] ऐसी प्रतिज्ञा करके श्री वी० कृष्णमाचार्य संहिताओं की २१९ संख्या तक पहुंचते हैं। पाञ्चरात्ररक्षा आदि में निर्दिष्ट नामों को मिला कर ३२५ संहिताओं के नाम प्राप्त होते हैं।

इस सभी संहिताओं में सात्त्वतसंहिता, पौष्करसंहिता और जयाख्य-संहिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पाञ्चरात्रशास्त्र के अन्तर्गत इन्हीं को रत्नत्रय भी कहा गया है।[३] अन्य संहिताओं के भी प्रशस्तिपरक वचन कई स्थलों पर दिखायी देते हैं। विष्णुतन्त्र के अन्तर्गत नवरत्नों का उल्लेख है। यथा, १—पाद्मतन्त्र, २—विष्णुतन्त्र, ३—कपिञ्जलसंहिता, ४—ब्रह्मसंहिता, ५—मार्कण्डेयसंहिता, ६—श्रीधरसंहिता, ७—परमतन्त्र, ८—भारद्वाज-संहिता तथा ९—नारायणतंत्र।[४] पाद्मतन्त्र के अन्तर्गत ६ तन्त्रों को श्रेष्ठ बताया गया है। यथा, १—पाद्मतन्त्र, २—सनत्कुमारसंहिता, ३—परम-

---

१—I. Pāñ, p. 5.

२—ल० तं० उ०, पृ० १०

३—सात्त्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्।
रत्नत्रयमिति ख्यातं तद्विशेष इहोच्यते॥ जया०सं०,१,२ (अधिकपाठे)

४—पाद्मतन्त्रं तु प्रथमं द्वितीयं विष्णुतन्त्रकम्।
कापिञ्जलं तृतीयं स्यात् चतुर्थं ब्रह्मसंहिता॥
मार्कण्डेयं पञ्चमं तु षष्ठं श्रीधरसंहिता।
सप्तमं परमं तन्त्रं भारद्वाजं तथाष्टकम्॥
श्रेष्ठं नारायणं तन्त्रं नवरत्नमुदीरितम्॥ विष्णुतन्त्र, ब्रह्मोत्सवाध्याय

संहिता, ४—पद्मोद्भवसंहिता, ५—महेन्द्रतन्त्र, तथा ६—कण्वसंहिता ।[१]

लक्ष्मीतन्त्र पाञ्चरात्र आगमों का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। साथ ही पाञ्चरात्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध सभी विषयों का विशद विवेचन होने के कारण अति प्रामाणिक भी है।[२] कपिञ्जलसंहिता के अन्तर्गत यह महालक्ष्मीतन्त्र नाम से उल्लिखित है, तथा विष्णुतन्त्र में लक्ष्मीतन्त्र के नाम से। पाञ्चरात्र आगम का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी इसके विषय में नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा गया है। नामोल्लेख भी केवल दो स्थानों पर प्राप्त होता है, और वह भी कुछ अन्तर के साथ। इसका कारण केवल एक हो सकता है, वह यह कि लक्ष्मीतन्त्र प्राचीन ग्रन्थ न होकर नवीन है।

स्वयं लक्ष्मीतन्त्र के अन्तर्गत इसकी बहुत प्रशंसा की गयी है। विविध शास्त्रों में जिस प्रकार मोक्षशास्त्र श्रेष्ठ है, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, पशुओं में गाय, धातुओं में सुवर्ण, रत्नों में कौस्तुभ मणि, गुरुओं में मां, इन्द्रियों में मन, चलों में मरुत, पर्वतों में मेरु, नदियों में गङ्गा, आश्रमों में गृहस्थ, तपस्वियों में वसिष्ठ, तत्त्वों में संन्यास, लाभों में बुद्धि जिस प्रकार उत्तम हैं उसी प्रकार तत्त्व-बोध कराने वाले तन्त्रों में यह (लक्ष्मी) तन्त्र उत्तम है। लक्ष्मी-

---

१—पाद्मं सनत्कुमाराख्यं तथा परमसंहिता।
पद्मोद्भवं च माहेन्द्रं कण्वतन्त्रामृतानि च ॥ पाद्मतन्त्र, चर्या० ३३

२—इति नानाविधं तन्त्रं चतुष्पादोपवृंहितम्।
पुराकृत्या पुराकल्पैरितिहासैश्च सम्मितम् ॥
रहस्यानेकसम्भेदं नानावाक्योपशोभितम्।
लक्ष्मीतन्त्राह्वयं सम्यक् सद्यः प्रत्यायकं नृणाम् ॥
ल० तं०, ५१।३,४

३—मोक्षशास्त्रं यथा श्रेष्ठं शास्त्राणां विविधात्मनाम्।
द्विपदां ब्राम्हणः श्रेष्ठो यथा गौश्च चतुष्पदाम् ॥
लोहानां कनकं श्रेष्ठं रत्नानां कौस्तुभो यथा।
माता श्रेष्ठा गुरूणां च पुत्रः प्रवदतां यथा ॥
इन्द्रियाणां मनः श्रेष्ठं चलतां च मरुद्यथा।
मेरुः श्रेष्ठो गिरीणां च त्रिस्रोताः सरितां यथा ॥
आश्रमाणां गृहस्थश्च वसिष्ठो जपतां यथा।

तंत्र का कथन है कि प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्र मूलभूत शतकोटिग्रन्थ परिमित लक्ष्मी-तन्त्र का साररूप है।[1] शास्त्रों में प्राप्त होने वाले इस प्रकार के वचन कभी प्रामाणिक नहीं होते। इस प्रकार के वचनों को वस्तुतः उन शास्त्रों की प्रशस्ति ही समझना चाहिए। उक्त कथन का अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वस्तुतः वह लक्ष्मीतन्त्र किसी समय रहा होगा।

वेदान्तदेशिक के पूर्व विशिष्टाद्वैत के आचार्यों ने लक्ष्मीतन्त्र का आश्रय नहीं लिया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्तदेशिक के पूर्व लक्ष्मी-तन्त्र प्रसिद्ध नहीं था। वेदान्तदेशिक ने, इनके समवर्तियों ने, तथा इनके पश्चाद्वर्तियों ने इसका प्रचुर उपयोग किया है। अप्पयदीक्षित, भास्करराय दीक्षित, नागेशभट्ट आदि विद्वानों ने इसका उपयोग किया है।[2] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वेदान्तदेशिक का समय ही लक्ष्मीतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोग-काल था।

लक्ष्मीतन्त्र : परिचय

लक्ष्मी का वैभव प्रतिपादक शास्त्र होने के कारण इसका नाम लक्ष्मी-तन्त्र है। लक्ष्मी विष्णु की शक्ति (या विष्णु की पत्नी) हैं। प्रायः पाञ्चरात्र आगमों के लिए संहिता शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए पाञ्चरात्र के नये रत्नत्रय ही द्रष्टव्य हैं—सात्त्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, पौष्करसंहिता। किन्तु ठीक इसी अर्थ में तन्त्र शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है। इस प्रकार संहिता और तन्त्र यहाँ पर्याय हैं।

कतिपय पुराकथाओं के माध्यम से ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। लक्ष्मी के माहात्म्य के विषय में अनुसूया की जिज्ञासा का उत्तर देते हुये अत्रि

तत्त्वानां सर्वसन्यासो धीर्लाभानां यथोत्तमा ॥
तथोत्तममिदं तन्त्रं तन्त्राणां तत्त्ववादिनाम्।... ..
एतां निश्रेणिकां गृह्य ह्यारोहन्ति परं पदम्।
तन्त्राणां परमं तन्त्रं मुद्रितं मत्समाख्यया ॥

ल० तं०, ५०।२२७-२३१, २३३

१—शतकोटिप्रविस्ताराल्लक्ष्मीतन्त्रमहार्णवात्।
अयं सारः समुद्धृत्य स्निग्धया दर्शितो मया ॥ वही, ४४।५२

२—ल० तं० उ०, पृ० ३९, ४०

ने एक वृत्तान्त सुनाया कि इसी प्रकार की मलयगिरि पर ऋषियों की जिज्ञासा का उत्तर नारद ने दिया था। नारद ने एक पौराणिक कथा सुनायी थी, जिसमें इन्द्र के द्वारा दुर्वासा के शापवश राज्यच्युत होकर लक्ष्मी की कृपा से पुनः राज्यप्राप्ति का वर्णन है। वृहस्पति के उपदेश से इन्द्र ने लक्ष्मी की प्रसन्नता के लिये तप किया। इन्द्र ने वर के रूप में लक्ष्मी माहात्म्य का ज्ञान ही मांगा। लक्ष्मी ने उसके उत्तर में लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश दिया।

ग्रन्थ के अन्तर्गत लक्ष्मी ने जहां उपदेशिका के रूप में पाञ्चरात्र धर्म का प्रामाणिक उपदेश किया है, वहीं प्रश्नकर्ता के रूप में शक्र का कार्य महत्त्वपूर्ण है। कुछ स्थलों पर तो वह अत्यधिक आधुनिक विचारक सा दिखायी देता है। उदाहरण के लिए लक्ष्मीतन्त्र का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है:—

कथं सृजसि वै लोकान् सुखदुःखसमन्वितान्।
असृष्टिर्हि वरं यद्वा सृष्टिरस्तु सुखात्मिका ॥[1]

विदेशों में इस प्रकार की समस्याओं को अधिक महत्त्व तथा प्राथमिकता प्रदान की गयी है। मध्यपूर्व के विख्यात दार्शनिक कवि उमर खय्याम, और शोपेन हायर आदि इसी परम्परा के चिन्तक हैं। खय्याम भी विषम सृष्टि की अपेक्षा नास्तित्व को अधिक श्रेयस्कर मानता है।[2] शोपेन हायर इस सृष्टि को सम्भव सृष्टियों में निकृष्टतम मानता है। ओर ऐसी सृष्टि का न होना ही श्रेयस्कर तथा श्रेष्ठतर मानता है। वह यह मानता हुआ प्रतीत होता है कि

१—ल० तं०, ३।३२

२—गर आमदनम बख़ुद बुदे नामदमे
वर नीज़ शुदन बमन बुदे कै शुदमे
बेह जाँ न बुदे कि अन्दरी दैर-ए-खराब
नै आमदमे नै शुदमे नै बुदमे ॥

अर्थात् यदि हमें यहाँ स्वेच्छा से आना होता तो हम न आते। और (अस्तित्ववान्) होना हमीं पर निर्भर होता तो हम कदापि न होते। इससे बढ़कर क्या बात होती कि इस भग्न मन्दिर में न हम आते, न होते और न रहते। तथा—

तास-ए-फलक् अज़ पेश दिलारा व तेहीस्त
आसूदः दरीं जहा न मीदानम कीस्त
ऐमन नफ़से ज़े मर्ग मी न तवां ज़ीस्त

सबसे अच्छा तो यह होता कि सृष्टि हुई ही न होती।[1] इसी प्रकार वॉन हार्टमान नामक जर्मन दार्शनिक का कथन है कि सृष्टि परम तत्त्व (अचेतन) की मूर्खता का परिणाम है। और यह कि सृष्टि प्रक्रिया, अपितु अस्तित्व मात्र का अन्त ही श्रेयस्कर है।[2] इसी प्रकार असृष्टि की कल्पना करने वाला शक्र इस अंश में आधुनिक सा लगता है। लक्ष्मी ने पाञ्चरात्र के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण तथा विशदीकरण इस प्रकार के उत्तर में किया है।

पस फायदः दर जहान-ए-बेफायदः चीस्त ॥
अर्थात् देखने में तो आकाश रूपी थाल चित्ताकर्षक है किन्तु वह (अन्दर से) रिक्त है। मुझे नही मालूम कि इस संसार में सुखी कौन है? कोई साँस ऐसी नहीं है जिसमें मृत्यु से निर्भय होकर जिया जा सके। भला इस निरर्थक संसार में रहने से क्या लाभ।

रूबाइयात-ए-उमर खय्याम, ७३४, ८५

१—शोपेन हायर इस प्रसङ्ग में प्रसिद्ध जर्मन कवि काल्डरान की निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहृत करता है —

'Pues el delito mayor
Del hombre es haber nacido'
(For the greatest crime of man
is that he was born.)
The world as will and idea,
Vol.I, P.328.

२—शोपेन हायर की आलोचना के प्रसङ्ग में हार्टमान लिखता है—

'The attempted proof..that this world is the worst of all possible ones, is a manifest-sophism; everywhere else Schopenhaur himself tries to maintain and prove nothing further than that all the existence prove nothing further than that all the existence, and this world is worse than its non-existence, and this assertion I hold to be correct.'

The Philosophy of the Unconscious. Vol III, p. 12.

लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित विषय

शैव आगमों की भांति पाञ्चरात्र आगमों का प्रतिपाद्य विषय चार पादों में विभक्त है—१. क्रियापाद, २. चर्यापाद, ३. ज्ञानपाद तथा ४. योगपाद। लक्ष्मीतन्त्र भी इन्हीं चार पादों में विभक्त है।[१] यद्यपि इन चारों पादों के विषय का वर्णन लक्ष्मीतन्त्र में है, किन्तु न तो वह इस क्रम से है और न ही वर्णन करते समय इन पादों का नामतः उल्लेख किया गया है। अन्य पाञ्चरात्र आगमों की अपेक्षा लक्ष्मीतन्त्र में ज्ञानपाद अधिक विस्तृत है। सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त परम तत्त्व, जीव और इनका स्वरूप, मोक्ष और मोक्ष के उपाय आदि विषयों का विशद वर्णन है। विविध मन्त्र, मन्त्रस्वरूप तथा मन्त्रसिद्धि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार यह सारा विषय लक्ष्मी की महिमा का विस्तार है।

लक्ष्मीतन्त्र की उपदेश-परम्परा

यहाँ पर इस उपदेश-क्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ-में 'पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्'[२] उक्ति की पुष्टि ही की गयी है। प्रश्न मूल रूप में अनुसूया का अत्रि से था किन्तु अत्रि ने नारद को अधिक प्रामाणिक समझा और नारद ने भी लक्ष्मी को अधिक प्रामाणिक समझा। मूलतः लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश लक्ष्मी ने शक्र को किया। लक्ष्मी और नारायण में तादात्म्य सम्बन्ध है, किसी भी अवस्था में विश्लेष नहीं। अतः वह एक ही बात है, इसका उपदेशक नारायण को कहें या लक्ष्मी को।

सत्तावनवें अध्याय के अन्दर विस्तार से उपदेश-परम्परा का वर्णन है। किन्तु वह क्रम भी बीच[३] में टूटा हुआ है। उपदेश-परम्परा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह ज्ञान लक्ष्मी से इन्द्र ने प्राप्त किया। इन्द्र से ब्रह्मा

१—चर्यापादक्रियापादौ पादौ च ज्ञानयोगयोः।
इति नानाविधं तन्त्रं चतुष्पादोबृंहितम् ॥
ल० तं०, ५१।२,३

२—म० भा०, शान्ति०,

३—ल० तं०, ५७।२७-३८

ने तथा ब्रह्मा से प्रजापतियों ने। इसके आगे क्रम टूट जाता है। मलयाचल पर नारद ने मुनियों को ज्ञान दिया। अङ्गिरा ने पावक को सुनाया और पावक ने कात्यायन को, कात्यायन ने गौतम को, गौतम ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने गर्ग को, गर्ग ने असित देवल को, असित देवल ने जैगीषव्य को और जैगीषव्य ने पितृगण को सुनाया। इसके बाद की पङ्क्ति अधिक भ्रामक है—

एकाञ्जनानान्नपिको मानसी दुहिता च या।
सा सुतं श्रावयामास पाराशर्यं महामुनिम्॥[1]

इसमें प्रथम शब्द 'एकाञ्जनानान्नपिको' ही अधिक भ्रामक है। इसके कारण छन्दोभङ्ग भी हो रहा है। अतः बहुत सम्भव है कि इस शब्द के स्थान पर मूलतः कोई और शब्द रहा हो। उस मानसी दुहिता का नामोल्लेख भी नहीं है। इसी मानसी दुहिता ने इस तन्त्र का उपदेश व्यास को किया, व्यास ने शुक को तथा शुक ने स्वर्भानु प्रजापति को। वसिष्ठ ने अरुन्धती को, अरुन्धती ने नारद को तथा नारद ने कपिल आदि योगियों को यह तन्त्र प्रदान किया। शङ्कर ने पार्वती को तथा हिरण्यगर्भ ने सरस्वती को इसका उपदेश किया। अन्त में अत्रि ने इस ग्रन्थ को ब्रह्मा से सुन कर अनुसूया को सुनाया। यह लक्ष्मीतन्त्र के अन्तिम अध्याय में बताया गया है। मनु ने जिन दस प्रजापतियों के नाम गिनाये हैं उनमें अत्रि, अङ्गिरा, वसिष्ठ और नारद का नाम भी है।[2] यदि इनका उपदेशक ब्रह्मा को मान लिया जाय[3] तो यह परम्परा कुछ सुलझ जाती है। उस स्थिति में परम्परा निम्नलिखित प्रकार की होगी :—

१—वही, ५७।३३

२—मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं बसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥

मनु० १।३५

३—ब्रह्मा प्रजापतिभ्यश्च पृष्टः प्रोवाच तत्त्ववित्।

ल० तं०, ५७।२९
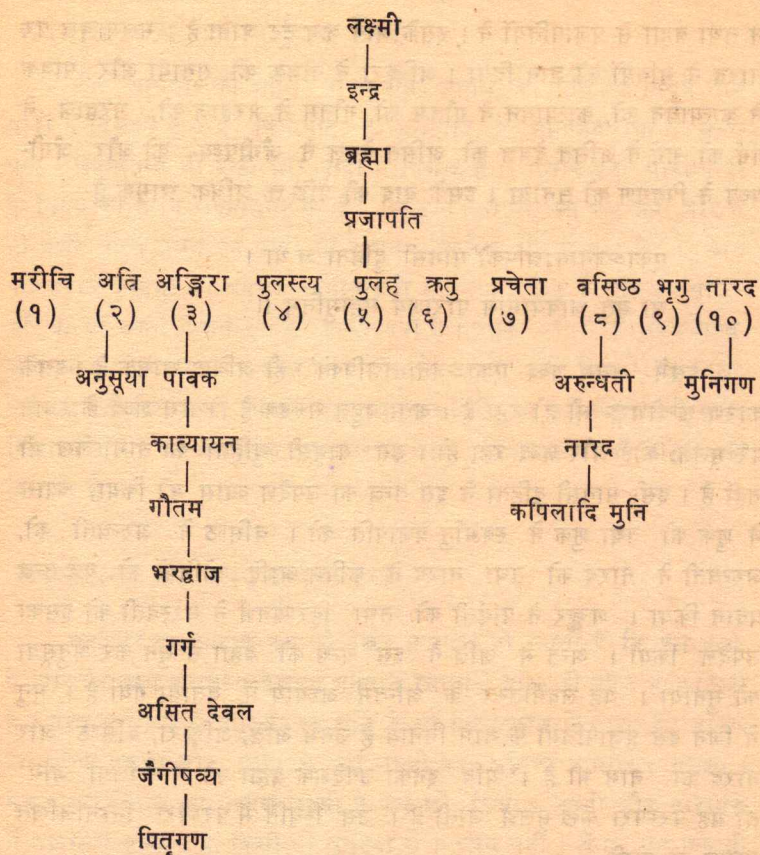
इतनी परम्परा के सुलझने के बाद भी कुछ अस्पष्ट रह जाता है। मानसी-दुहिता[1], शङ्कर तथा हिरण्यगर्भ भी उपदेशक के रूप में प्राप्त होते हैं किन्तु उक्त परम्परा में इनका कहाँ स्थान है, ऐसा लक्ष्मीतन्त्र में कुछ भी नहीं कहा गया है। अतः लक्ष्मीतन्त्र का अभिप्राय एक अस्पष्ट परम्परा का उल्लेख करना ही था, ऐसा प्रतीत होता है।

लक्ष्मीतन्त्र और अत्रिसंहिता

परकालमठ मैसूर के दिवङ्गत (३३ वें) मठाधीश श्रीमदभिनवरङ्गनाथ

१—ल० तं०, ५७।३३

परकालस्वामी वर्तमान लक्ष्मीतन्त्र को ही ग्रन्थों में बहुश्रुत अत्रिसंहिता मानते हैं। जैसा कि उन्होंने यत्र तत्र लिखा है—

(क) 'उपायं वृणु लक्ष्मीशम्' इति अत्रिसंहिताऽपरनामकलक्ष्मीतन्त्रवचने निक्षेपरक्षोदाहृते...।[1]

(ख) इत्थमर्थस्य अत्रिसंहितापरनामकगीताविस्तरभूतलक्ष्मीतन्त्र-वचनेषु विदुषां ष्फुटं निर्णयेन न्यासशरणागत्योर्भेदोत्प्रेक्षणमनवकाशम् ।[2]

किन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। और वह अन्तर निम्नलिखित आधारों पर सिद्ध किया जा सकता है :—

१. (क) प्रस्तुत ग्रन्थ का एक मात्र नाम लक्ष्मीतन्त्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुसूया और अत्रि के मध्य प्रश्नोत्तर के रूप में आरम्भ होने के कारण लक्ष्मीतन्त्र को अत्रिसंहिता कहने में पूज्य स्वामी जी ने कुछ अनौचित्य नहीं समझा है। परन्तु दोनों की एकता में यह उचित हेतु नहीं प्रतीत होता, क्योंकि लक्ष्मीतन्त्र के प्रथम अध्याय के अनुसार ही लक्ष्मीतन्त्र के उपदेष्टा तीन व्यक्ति हैं। १–अत्रि, २–नारद और ३–लक्ष्मी। अनुसूया के अत्रि से प्रश्न पूछने पर अत्रि ने नारद के उत्तर का स्मरण किया। नारद ने ऋषियों को उत्तर देते समय लक्ष्मी के उत्तर का स्मरण किया। किन्तु शक्र के प्रश्न पूछने पर लक्ष्मी ने उसी प्रश्न का उत्तर देते समय किसी के उत्तर का स्मरण नहीं किया। अपनी ओर से ही उन्होंने शक्र को लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश किया है। अतः लक्ष्मीतन्त्र की मूलतः उपदेश करने वाली लक्ष्मी हैं। इस आधार पर उन्हीं के नाम से ग्रन्थ का नाम होना चाहिए। इससे लक्ष्मीतन्त्र ही इसका उचित नाम प्रतीत होता है। यदि तीनों में से एक उपदेशक होने के कारण अत्रि के नाम से ग्रन्थ का नामकरण हो सकता है तो नारद को इस अधिकार से क्यों वञ्चित रखना चाहिए। और ऐसी स्थिति में इसके तीन नाम होने चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं है। लक्ष्मीतन्त्र ही इसका नाम है। अत्रिसंहिता पृथक् ग्रन्थ है।

(ख) लक्ष्मीतन्त्र ग्रन्थ के अन्दर दृष्टिपात करने पर लक्ष्मीतन्त्र नाम ही दिखाई पड़ता है, न कि अत्रिसंहिता। उदाहरण के लिए—

१—गू० सं०, पृ० ४ ज।
२—वही, पृ० ४ त।

(i) प्रसन्नः कथयाम्यद्य लक्ष्मीतन्त्रं सनातनम् ।[१]

(ii) चिकीर्षुर्मम प्रियं योगी लक्ष्मीतन्त्रविचक्षणः ।[२]

(iii) शतकोटिप्रविस्ताराल्लक्ष्मीतन्त्रमहार्णवात् ।
अयं सारः समुद्धृत्य स्निग्धया दर्शितो मया ॥[३]

(iv) तन्त्रं लक्ष्म्यास्ततः प्रापुर्योगिनः कपिलादयः ॥[४]

(v) तासां पारायणं शश्वल्लक्ष्मीतन्त्रमिति स्मृतम् ॥[५]

(vi) दर्शितं परमं तत्त्वं सावधानेन चेतसा ।
सरहस्यं ससङ्क्षेपं लक्ष्मीतन्त्रमिदं परम् ॥[६]

इस प्रकार ग्रन्थ के अन्दर भी अनेक बार लक्ष्मीतन्त्र नाम का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त लक्ष्मीतन्त्र में ही यह कहा गया है कि यह ग्रन्थ लक्ष्मी के नाम से मुद्रित है—

तन्त्राणां परमं तन्त्रं मुद्रितं मत्समाख्यया[७] ।

लक्ष्मी और शक्र के संवाद को अनुसूया तक पहुँचाने वाले के रूप में अत्रि के नाम का उल्लेख कहीं नहीं है । इन हेतुओं से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम लक्ष्मीतन्त्र ही है, अत्रिसंहिता नहीं ।

२—अत्रिसंहिता पाञ्चरात्र-आगमों में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, लक्ष्मीतन्त्र से भिन्न है और अनुपलब्ध है । इस बात को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित हेतु पर्याप्त होंगे :—

(क) कपिञ्जलसंहिता के अन्तर्गत पाञ्चरात्र संहिताओं का नाम-निर्देश करते समय लक्ष्मीतन्त्र तथा अत्रिसंहिता का पृथक् उल्लेख किया गया है । कपिञ्जलसंहिता के ही शब्दों में—

१—ल० तं०, १।२५
२—वही, ४३।६१
३—वही, ४४।५२
४—वही, ५७।३५
५—वही, ५७।३७
६—वही, ५७।४६
७—वही, ५०।१३३

पद्मपुष्करहैरण्यं पाराशर्यं नृकेसरी ।
काश्यपागस्त्यकपिलयाज्ञवल्क्यात्रिसम्भवम् ।।
विष्णुसिद्धान्ततिलकं जयसात्वतसंहिता ।
श्रीपुष्करमहालक्ष्मीकुशलानन्दपावना ।।[१]

अत्रिसम्भव-तन्त्र का अभिप्राय है अत्रिसंहिता या आत्रेयसंहिता। महालक्ष्मीतन्त्र ही लक्ष्मीतन्त्र है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में दोनों संहिताओं का अलग-अलग संहिता के रूप में नाम-निर्देश किया गया है। अतः दोनों संहिताओं में एकता का कोई प्रश्न नहीं उठता।

(ख) पाञ्चरात्र आगमों के मर्मज्ञ श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में दोनों स्थानों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। लक्ष्मीतन्त्र नाम से उद्धृत किये गये वचन तो प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्र में हैं ही, अत्रिसंहिता के वाक्य इसमें नहीं प्राप्त होते हैं। अत्रिसंहिता से पाञ्चरात्ररक्षा में उदाहृत कतिपय वाक्य इस प्रकार हैं—

(i) अत्रिश्च स्नानजपहोमदानानां नित्यत्वमाह–
अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते अजपः पूयशोणितम् ।
अहुताग्निः क्रिमिं भुङ्क्ते अदाता कीटमश्नुते ।। इति।।[२]

(ii) अत्रिः—
त्रैकाल्यमर्चनं विष्णोर्देवानां च तदात्मनाम् ।
नमस्कारार्चनादीनि कुर्यान्नान्यस्य कस्यचित् ।।इति।।[३]

ये वाक्य लक्ष्मीतन्त्र में नहीं दिखाई देते हैं। अतः यह निश्चित हो जाता है कि अत्रिसंहिता लक्ष्मीतन्त्र से भिन्न कोई ग्रन्थ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम लक्ष्मीतन्त्र है तथा अत्रिसंहिता लक्ष्मीतन्त्र से पृथक् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है जो कि आजकल उपलब्ध नहीं है। अतः ऐसा कोई भी कारण दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे लक्ष्मीतन्त्र और अत्रिसंहिता में एकता स्थापित की जाय। अतः लक्ष्मीतन्त्र अत्रिसंहिता नहीं है।

१—कपिञ्जलसंहिता, १-१५, १६
२—पां० र०, पृ० १२८, १२९
३—वही, पृ० १४१

लक्ष्मीतन्त्र का समय

किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय आधुनिक पाठक के मस्तिष्क में उस ग्रन्थ की रचना के समय के विषय में तथा उसके रचयिता के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। भारतीय साहित्य इस विषय में आधुनिक बौद्धिकों के लिए एक प्रकार की चुनौती उपस्थित करता रहा है। यह बात लक्ष्मीतन्त्र के विषय में और भी उचित ठहरती है। ऐसा कोई भी स्रोत उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर लक्ष्मीतन्त्र के समय के बारे में निर्णय-पूर्वक कुछ कहा जा सके। हाँ, कुछ बातें ऐसी अवश्य ढूंढने पर प्राप्त होती हैं, जिनके आधार पर कुछ अनुमान किया जा सकता है। वे कतिपय हेतु निम्नलिखित हैं :—

(१) मनुस्मृति की कतिपय पङ्क्तियां उसी रूप में लक्ष्मीतन्त्र में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है—

(क) लक्ष्मीतन्त्र—सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो लयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥[१]

मनुस्मृति में प्रस्तुत श्लोक इसी रूप में प्राप्त है।[२]

(ख) लक्ष्मीतन्त्र—इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥
इदं तितीर्षतां पारमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥[३]

तथा—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥
अयमन्विच्छतां स्वर्गः पोतः पारं तितीर्षताम् ॥[४]

मनुस्मृति—इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥[५]

अब प्रश्न उठता है कि लक्ष्मीतन्त्र में मनुस्मृति से यह वचन उदाहृत किए गए हैं अथवा मनुस्मृति में लक्ष्मीतन्त्र के वचन उदाहृत किए गए हैं। ध्यान देने पर प्रतीत होता है कि यह उद्धरण लक्ष्मीतन्त्र में मनुस्मृति से

१—ल० तं०, २८।२५
२—मनु०, १०।११५
३—ल० तं०, १७।१०१, १०२
४—वही, २४।५१, ५२
५—मनु०, ६।८४

ग्रहण किए गए हैं। प्रथम उद्धरण में सात प्रकार के धर्मयुक्त धनागम की बात कही गयी है। मनुस्मृति में इसका उल्लेख अत्यधिक स्वाभाविक और प्रासङ्गिक है। लक्ष्मीतन्त्र के अन्दर इसका वर्णन उतना प्रासङ्गिगक नहीं है। पञ्चकालप्रक्रिया में उपादानकाल का वर्णन करते समय इसका वर्णन किया गया है। धन के होने पर विद्वान् को उपादान नहीं करना चाहिए[1]—इस कथन के पश्चात् सात प्रकार के धर्मसङ्गत धनागम का वर्णन किया गया है।

२. लक्ष्मीतन्त्र में शब्दब्रह्म का प्रतिपादन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। महाभारत में भी शब्दब्रह्म का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा :—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥[2]

मैत्रायणी उपनिषद् में शब्दब्रह्म शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।[3]

लक्ष्मीतन्त्र में प्रायः इसी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया गया है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः शब्दातीतं प्रपद्यते।[4]
शब्दब्रह्मणि निष्णातं प्रापयेयुः परां श्रियम्।[5]

किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् की प्राचीनता में प्रायः सन्देह नहीं किया गया है। यहाँ इस स्थल पर इसके उल्लेख करने का मुख्य अभिप्राय केवल इतना है कि लक्ष्मीतन्त्र में शब्दब्रह्म शब्द का इतना प्राचुर्य है जिससे यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मीतन्त्र की रचना उस समय हुई जब दर्शन के क्षेत्र में शब्दब्रह्म शब्द बहुत विख्यात हो चुका था। शब्दब्रह्म शब्द का अधिक प्रयोग सर्वप्रथम मण्डनमिश्र तथा भर्तृहरि ने किया था। भर्तृहरि के वाक्यपदीय के बाद ही यह शब्द अधिक प्रसिद्ध हुआ है। भर्तृहरि का समय प्रायः छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। अतः लक्ष्मीतन्त्र की रचना का समय भर्तृहरि के पश्चात् ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

१—ल० तं०, २८।२४
२—म० भा०, शान्तिपर्व २७०।१, २
३—मै० उ०, ६।२२
४—ल० तं०, ५१।३२
५—वही, २२।३१

३. लक्ष्मीतन्त्र की निम्नलिखित उक्ति द्रष्टव्य है :—

विकल्पो विविधा क्लृप्तिस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ।।
धर्मेण सह सम्बन्धो धर्मिणश्च स उच्यते ।
विकल्पो पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः ।।
दण्डीति द्रव्यसंयोगाच्छुक्लो गुणसमन्वयात् ।
गच्छतीति क्रियायोगात्पुमान् सामान्यसंस्थितेः ।।
डित्थः शब्दसमायोगादितीत्थं पञ्चधा स्थितिः ।[1]

पांच विकल्प ये हैं–(१) द्रव्य, (२) कर्म, (३) गुण, (४) सामान्य और (५) शब्द। वर्णन करने के ढंग से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्रसिद्ध सिद्धान्त की ओर सङ्केत किया जा रहा है। ऐसा सङ्केत ऊपर उदाहृत प्रथम पङ्क्ति में ही दिखाई देता है—

विकल्पो विविधा क्लृप्तिस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ।[2]

अर्थात् विकल्प को विशेषण कहा गया है। प्रश्न उठता है कि कहां कहा गया है ? वस्तुतः सर्वप्रथम पांच विशेषणों का उल्लेख प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में किया है —

सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्मनः सन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।[3]

अर्थात् सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण और कर्म ये पांच विशेषण हैं। लक्ष्मीतन्त्र में 'तच्च प्रोक्तं विशेषणम्'[4] के द्वारा प्रशस्तपाद की ओर सङ्केत किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु दोनों में थोड़ा अंतर है। लक्ष्मीतन्त्र का 'शब्द' नामक विकल्प या विशेषण, प्रशस्तपादभाष्य में 'विशेष' है। सम्प्रति मान्यता यह है कि प्रशस्तपादभाष्य की उक्त कल्पना दिङ्नाग से ग्रहण की गयी है।

दिङ्नाग ने पञ्चकल्पनाओं या पञ्चविकल्पों की सर्वप्रथम कल्पना की। प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए दिङ्नाग कहता है—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादिसंयुतम् ।[5]

१—वही, ५।६८-७१
२—वही, ५।६८
३—प्रशस्तपादभाष्य, प्रत्यक्ष प्रकरण ।
४—ल० तं०, ५।६८ ।।
५—प्रमाणसमुच्चय, ३

इसी पर वृत्ति लिखते हुए दिङ्नाग ने पाँच कल्पनाओं का नामतः उल्लेख किया है। यथा—

'नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थः डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति।[1]

प्रशस्तपाद ने जिसे 'विशेष' कहा, दिङ्नाग ने उसी को 'नाम' कहा है। लक्ष्मीतन्त्र में उसी को 'शब्द' नामक 'विकल्प' कहा गया है। उदाहरण के लिए 'शब्द' के विषय में लक्ष्मीतन्त्र का कथन है—

डित्थः शब्दसमायोगात्[2]

और दिङ्नाग के अनुसार—

नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति।[3]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दिङ्नाग का प्रभाव लक्ष्मीतन्त्र पर है। दिङ्नाग का समय छठी शती माना गया है। अतः लक्ष्मीतन्त्र की रचना छठी शती के बाद हुई होगी।

४—लक्ष्मीतन्त्र में प्रशस्तपाद के 'विशेषण' शब्द के लिये 'विकल्प' नामक पर्याय का उल्लेख किया गया है; किन्तु इस अर्थ में 'विकल्प' शब्द प्रशस्तपाद और दिङ्नाग के समय में प्रसिद्ध नहीं था। दिङ्नाग ने उसे कल्पना कहा था और उसी को प्रशस्तपाद ने 'विशेषण' कहा। इस अर्थ में 'विकल्प' शब्द का प्रयोग धर्मकीर्ति में अधिक प्राप्त होता है। दिङ्नाग की 'कल्पना' और अपने विकल्प को वह पर्याय मानता है। 'शब्दकल्पना' का निरास करते हुए धर्मकीर्ति का कथन है—

जायन्ते कल्पनास्तत्र यत्र शब्दो निवेशितः[4]।

इसी का अर्थ स्पष्ट करते हुये आचार्य मनोरथनन्दी का कथन है—

शब्दयोजनात्मिकाः कल्पनाः[5]।

धर्मकीर्ति ने दूसरे स्थल पर इसी अर्थ में 'विकल्प' शब्द का प्रयोग किया है—

१—वही
२—ल० तं०, ५।७१
३—प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, ३
४—प्रमाणवार्तिक, २।१७६
५—प्रमाणवार्तिकवृत्ति, २।१७६

विकल्पो नामसंश्रयः[1] ।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि सर्वप्रथम पांच कल्पनाओं का प्रतिपादन दिङ्नाग ने किया । इन्हीं पांच कल्पनाओं का निरूपण प्रशस्तपाद ने भी किया; किन्तु 'कल्पना' शब्द को उसने 'विशेषण' की संज्ञा प्रदान की । दिङ्नाग के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या और प्रचार करते समय धर्मकीर्ति ने 'कल्पना' के लिये 'विकल्प' नाम का पर्याय प्रस्तुत किया । अतः 'विकल्प' शब्द का प्रचार सर्वप्रथम धर्मकीर्ति ने ही किया । दूसरी बात यह है कि अपने पांच विशेषणों में प्रशस्तपाद ने जिसे 'विशेष' कहा, उसी को दिङ्नाग ने 'नाम' की संज्ञा प्रदान की थी । इस 'नाम' के लिये धर्मकीर्ति ने 'शब्द' नामक विकल्प प्रस्तुत किया । अतः 'शब्द' भी उक्त अर्थ में धर्मकीर्ति के द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ है कि धर्मकीर्ति के 'विकल्प' और 'शब्द' को उसी अर्थ में ग्रहण करने वाला लक्ष्मीतन्त्र निश्चय ही धर्मकीर्ति के बाद लिखा गया है । धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी माना गया है । इसके सिद्धान्तों को प्रसिद्ध, ख्यात तथा उदाहृत होने की योग्यता प्राप्त करने में सौ वर्ष का समय आवश्यक समझा जाता है । अतः लक्ष्मीतन्त्र की रचना आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद ही हुई होगी ।

वैसे 'विकल्प' शब्द का प्रयोग योगसूत्र में भी हुआ है । यथा—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।[2]

किन्तु यहाँ पाँच विकल्पों की कहीं कल्पना नहीं है ।

५—इसके पक्ष में लक्ष्मीतन्त्र में कही गई निम्नलिखित पंक्ति भी कुछ सीमा तक समर्थन प्रदान करती है—

क्षणभङ्गविधानज्ञैश्चिन्त्ये निर्विषया च धीः[3] ।

यहां योगाचार मत का उल्लेख किया गया है । वैसे तो यह सिद्धान्त उतना ही पुरातन है जितने कि स्वयं गौतम बुद्ध । किन्तु संस्कृत में इसको दार्शनिक रूप मुख्यतया दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने ही प्रदान किया । इससे भी इनका प्रभाव लक्ष्मीतन्त्र में स्वीकार किया जा सकता है । इस प्रकार आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध लक्ष्मीतन्त्र के समय

१—प्रमाणवार्तिक, २।१२३

२—योगसूत्र, समाधि० ९

३—ल० तं०, २५।४४

की उच्चतम अवधि मानी जा सकती है।

६—अब निम्नतम अवधि का निर्धारण शेष रह जाता है। जहाँ तक पता चलता है सर्वप्रथम लक्ष्मीतन्त्र के उद्धरण वेदान्तदेशिक ने ही यत्र तत्र अपने ग्रन्थों में दिये हैं, मुख्य रूप से रहस्यत्रयसार तथा निक्षेपरक्षा आदि ग्रन्थों में। वेदान्तदेशिक का सयय १२६८ ई० से १३७० ई० तक माना गया है। वेदान्तदेशिक के समय तक लक्ष्मीतन्त्र अत्यधिक प्रामाणिक ग्रन्थों में स्वीकार किया जा चुका था। यह वेदान्तदेशिक की शैली से ज्ञात होता है। सम्पूर्ण निक्षेपरक्षा में लक्ष्मीतन्त्र के उद्धरणों का ही प्राचुर्य है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि बारहवीं शताब्दी तक लक्ष्मीतन्त्र की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी।

७—उक्त तथ्य की पुष्टि में एक और महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध होता है। प्रसिद्ध शैव दार्शनिक महेश्वरानन्द ने अपने ग्रन्थ महार्थमञ्जरी में लक्ष्मीतन्त्र को दो स्थानों पर उदाहृत किया है। यथा—

(क) यथा च लक्ष्मीतन्त्रे—
संविदेव हि रूपं मे स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा ॥
सापीक्षुरसवद् योगात् स्त्यानतां प्रतिपद्यते।
अतो निरूप्यमाणं तच्चैत्यं चित्त्वमुपैष्यति ॥[2]

(ख) यदुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—
स्तिमितं यत् परं ब्रह्म तस्य स्तिमिततास्म्यहम्।[3]

स्वल्प पाठभेद के साथ यह दोनों उद्धरण लक्ष्मीतन्त्र (१४।५, ६, तथा २२।७) में उपलब्ध होते हैं। महेश्वरानन्द का समय तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मध्म माना गया है।[4] यही समय वेदान्तदेशिक का भी है।

१—उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है—
तथा च स्मर्यते—सर्वज्ञोऽपि विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन्।
नि० र०, पृ० ३४
अत एव ह्युच्यते—सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतस्संसारतारकः।
वही, पृ० ३५

२—महार्थमञ्जरी, २५, पृष्ठ ६५

३—वही, ६९, पृष्ठ १७५

४—पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी के अनुसार—
किञ्च, योगतन्त्रविमर्शिन्याः प्रथमेऽङ्के स्वकीये निबन्धे (पृ० १५९-

८—जहाँ तक रामानुज का प्रश्न है, न तो लक्ष्मीतन्त्र को रामानुज का परिचय था और न रामानुज को लक्ष्मीतन्त्र का। रामानुज का सिद्धान्त है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु का ग्रहण होता है, जब कि लक्ष्मी-तन्त्र का कथन है—

आलोचनानि कथ्यन्ते धर्मिमात्रग्रहश्च सः।[1]

रामानुज का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। यद्यपि यह बात निर्णायक तो नहीं हो सकती तथापि लक्ष्मीतन्त्र बारहवीं शताब्दी के पूर्व ही लिखा गया है, इस स्थापना में सहायक अवश्य हो सकती है।

अतः इन सबके आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि लक्ष्मीतन्त्र की रचना आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई है।

---

१६०) ऋजुविमर्शिनीकारस्य शिवानन्दस्य समयः ख्रीष्टत्रयोदशतम-शताब्द्या अन्तिमो भागः, योगिनीहृदयदीपिकाकारस्य योगिनोऽमृतानन्दस्य समयः ख्रीष्टचतुर्दशतमशताब्द्या अन्तिमो भागः, उभयोरनयोर्मध्ये च महार्थमञ्जरीकारस्य महेश्वरानन्दस्य स्थितिरिति वयं प्रमाणपुरःसरम-साधयाम।

महार्थमञ्जरी, उपोद्घात, पृ० ९

१—ल० तं०, ५।५९

द्वितीय अध्याय

ब्रह्म और श्रीतत्त्व

ब्रह्म का स्वरूप

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।[1]

अर्थात् सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण भी इसी लक्षण को सूत्रबद्ध करते हैं—

जन्माद्यस्य यतः[2] ।

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में ब्रह्म को सृष्टि, स्थिति और प्रलय

१—तै० उ०, ३।१।१
२—ब्र० सू०, १।१।२

का कारण माना गया है। लक्ष्मीतन्त्र में इसी परम्परा का पालन किया गया है।[१] अर्थात् लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार ब्रह्म जगत् की सृष्टि आदि का कारण है।

जहाँ तक ब्रह्म के स्वरूप का प्रश्न है ज्ञान को ब्रह्म का स्वरूप-निरूपक धर्म माना गया है।[२] साथ ही उपनिषदों में निरूपित ब्रह्म के स्वरूप को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, तथा देश, काल आदि व्यवच्छेदों से रहित है।[३] इसके अतिरिक्त अन्य कई शब्दों का प्रयोग भी ब्रह्म के स्वरूप के विषय में किया जाता है। यथा—सत् चित्, आनन्द आदि। इन सभी स्वरूप-निरूपक धर्मों में ज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया हैं। इतने धर्मो के होते हुए भी ब्रह्म को ज्ञानमात्र स्वरूप क्यों कहा गया? रामानुज का इस विषय में मत है कि यह कथन सर्वथा उचित है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, निखिल हेय गुणों से रहित तथा कल्याण गुणों के आकर ब्रह्म का स्वरूप केवल ज्ञान के द्वारा निरूपित किया जा सकता है, तथा स्वयंप्रकाश होने के कारण ज्ञान-स्वरूप है।[४]

'संवित्तिरेव मे रूपम्'[५], 'संविदेव मे रूपम्'[६] इस प्रकार की घोषणा करते हुए भी लक्ष्मीतन्त्र में उसे सत्, चित्, आनन्द, आदि लक्षणों से सम्पन्न[७] माना

१—स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत्सर्वोपकरणान्वितम्।
दिव्यं तच्चिन्तयेद्यस्य विश्वं तिष्ठति शासने॥
ल० तं०, १०।४१

२—संवित्तिरेव मे रूपम्। वही, ३।२
संविदेव हि मे रूपम्। वही, १४।५
ज्ञानं तत् परमं ब्रह्म। वही, २।२४

३—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ०, २।१

४—ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेति वादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्यनीक-कल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणस्स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं स्वयंप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः।
श्रीभाष्य, १।१।१, पृ० १००

५—ल० तं०, ३।२

६—वही, १४।५

७—चातुरात्म्यं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
चातुरात्म्यं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमव्रणम्।
वही, १५।८, १७।५

गया है । रामानुज के उपर्युक्त कथन से यह समझा जा सकता है कि ज्ञान या संवित्ति को स्वरूप-निरूपक क्यों कहा गया । ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अहम् शब्द से जिस अर्थ का अवभास होता है उसे आत्मा या जीवात्मा कहते हैं, तथा देश, काल, वस्तु इन त्रिविध परिच्छेदों से रहित अहम् ब्रह्म है ।[1] यह सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् ब्रह्म की ही क्रोड में स्थित है ।[2] जगत् की समस्त वस्तु या अवस्तु इदं शब्द-वाच्य हैं । ऐसी कोई भी वस्तु या अवस्तु नहीं है जो ब्रह्म की अहंता से आक्रान्त न हो । इदंता से युक्त जो है वह अहंता से अवश्य आक्रान्त है । लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में—

वस्त्ववस्तु च तन्नास्ति यन्नाक्रान्तमहंतया ।
इदंतया यदालीढमाक्रान्तं तदहंतया ।।[3]

इसके अतिरिक्त लक्ष्मीतन्त्र में यत्र तत्र ब्रह्म के स्वरूप के विषय में बहुत से विशेषणों का प्रयोग करते हुए सुन्दर विवेचन किया गया है, यथा—ब्रह्म निःसीम सुख के अनुभवमात्र लक्षण वाला है ।[4] पूर्णरूपेण शान्त, निर्विकार, अनादि, अनन्त, आदि, इस प्रकार के अनेक विशेषणों के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है ।[5]

ब्रह्म अनुभूति का विषय है ।[6] यही ब्रह्म का दार्शनिक स्वरूप है ।

१—वही, २।२,३

२—वही, २।४

३—वही, ३।७

४—अस्ति निर्दुःखनिःसीमसुखानुभवलक्षणः ।
परमात्मा ·········
वही, २।१

५—सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः ।
अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः ।।
महाविभूतिरित्युक्तो व्याप्तिः सा महती यतः ।
तद् ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम् ।।
निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम् ।
एकं तच्चिद्घनं शान्तमुदयास्तमयोज्झितम् ।।
अपृथग्भूतशक्तित्वाद् ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते ।।
वही, २।८-११

६—सुखानुभवलक्षणः······ वही, २।१

श्रीवैष्णव धर्म में ब्रह्म को ईश्वर, नारायण, वासुदेव आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यह ईश्वर भक्ति तथा शरणागति से प्राप्य है। परन्तु वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है—

वासुदेवः परं ब्रह्म नारायणमयं महत्।[1]

ईश्वर समस्त हेय गुणों से रहित तथा अनन्त कल्याण गुणों से सम्पन्न है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये ईश्वर के प्रमुख गुण हैं। इन गुणों को षाड्गुण्य कहा गया है। लक्ष्मी के साथ नित्यसम्बद्ध ईश्वर दिव्यशरीरसम्पन्न तथा दिव्य आयुध और दिव्य आभूषणों से अलङ्कृत है।[2]

इस प्रकार से लक्ष्मीतन्त्र में ब्रह्मस्वरूप-विषयक वर्णन किया गया है। किन्तु चातूरूप्य (पर, व्यूह, विभव तथा अर्चा) तथा उसके षाड्गुण्य (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज) आदि का विशद वर्णन है।

चातूरूप्य

भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ब्रह्म चार प्रकार के रूपों से अवस्थित होता है।[3] प्रश्न उठता है कि क्या वह चार प्रकार के रूपों में अवस्थित हो कर ही भक्तों पर अनुग्रह कर सकता है? क्या एक रूप में स्थित रह कर वह अनुग्रह नहीं कर सकता?[4] इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि जीवों के सञ्चित पुण्य विविध प्रकार के हैं। अतः पुण्य में तारतम्य होने के कारण अधिकारियों में भेद आ जाता है। सुकृत का उन्मेष होने के कारण कोई पुरुष किसी समय, दूसरा और किसी समय तथा अन्य किसी दूसरे समय पर ईश्वर के अनुग्रह के अधिकारी होता है। और इस प्रकार ईश्वरतत्त्व को जानने के लिए किसी में मन्द, किसी में मध्यम, तथा किसी में दिव्यविवेक

१—वही, १५।९

२—वही, १७।२२-२४, ३८।५४, १७।४५

३—अनुग्रहाय जीवानां भक्तानां चानुकम्पया।
परव्यूहादिभेदेन देवदेवप्रवृत्तयः॥
वही, ११।४१

४—अनुग्रहाय भक्तानामेकैवास्तु विधा हरेः।
वही, ११।४२

उत्पन्न होता है।[1] अतः ईश्वर के अनुग्रह में भेद होने के कारण कार्यभेद के अनुसार चार रूपों की भावना की जाती है।[2] वे चार रूप इस प्रकार हैं—

(१) पर,
(२) व्यूह,
(३) विभव और
(४) अर्चा।

पाञ्चरात्र आगम की कुछ संहितायें ईश्वर के पांच रूपों का प्रतिपादन करती हैं। चार तो यही रूप हैं, ईश्वर के अन्तर्यामिरूप को वे पांचवाँ रूप मानती हैं। विष्वक्सेनसंहिता में ईश्वर के पांच रूपों का प्रतिपादन किया गया है।[3] अहिर्बुध्न्यसंहिता भी ईश्वर के पांच रूपों का ही प्रतिपादन करती है। परन्तु लक्ष्मीतन्त्र के अन्तर्गत चार रूपों का ही प्रतिपादन किया गया है।[4]

१. पररूप

ईश्वर के चार रूपों में प्रथम है पररूप। दिव्यभूषणों तथा दिव्य-आयुधों से अलङ्कृत, षाड्गुण्य से युक्त और सर्वदा शान्तस्वरूप ही ईश्वर का पररूप है।[5] लक्ष्मी ईश्वर की शक्ति है। दोनों में तादात्म्य अथवा अपृथक्-

---

१—वही, ११।४३-४६

२—ईशानुग्रहवैषम्यादेवं भेदे व्यवस्थिते।
तत्तत्कार्यानुरोधेन परव्यूहादिभावना॥

वही, ११।४७

३—मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।

I. Pāñ p, 52

४—पराद्यर्चावसानेऽस्मिन्मम रूपचतुष्टये।

ल० तं०, २।६०

५—षाड्गुण्यममलं ब्रह्म निर्दोषमजरं ध्रुवम्।
सर्वशक्तिनिरातङ्कं निरालम्बनभावनम्॥
....
अन्यूनानतिरिक्तैः स्वैर्गुणैः षड्भिरलङ्कृतैः॥
समं समविभक्ताङ्गं सर्वावयवसुन्दरम्।

सिद्ध सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के कारण ईश्वर को सश्रीक कहा जाता है। किसी भी अवस्था में वह निःश्रीक नहीं हो सकता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जाता है कि पाञ्चरात्र आगमों का प्रतिपाद्य अद्वैत है, न कि द्वैत। यह ईश्वर जगत् के लिए विविधि रूपों को धारण करता है।[1] ईश्वर के पररूप को परवासुदेव के नाम से अभिहित किया जाता है। परवासुदेव का स्वरूप प्रायः वही है जो व्यूहस्थ वासुदेव का है। परवासुदेव के समान ही व्यूहस्थ वासुदेव भी षाड्गुण्य-परिपूर्ण तथा सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त है। किन्तु फिर भी इन दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। व्यूहस्थ वासुदेव का आविर्भाव परवासुदेव से ही होता है। इन दोनों में अन्तर स्पष्ट करने वाले इन दोनों के एक एक विशेषण हैं। परवासुदेव का विशेषण है शान्तोदित। अर्थात् परवासुदेव में षाड्गुण्य पूर्णरूपेण शान्त अवस्था में रहता है। इस कारण सृष्टि आदि कृत्यों में उसका उन्मेष नहीं होता है।[2] व्यूहस्थ वासुदेव का विशेषण है–नित्योदित। अर्थात् व्यूह वासुदेव में षाड्गुण्य नित्य उदित अवस्था में रहता है। इसलिए उसमें सृष्टि आदि कृत्यों के लिए उन्मेष होता है। यही पर और व्यूह वासुदेव में अन्तर है।

२—व्यूहरूप

व्यूहरूप पाञ्चरात्र आगमों की पूर्णतः मौलिक कल्पना है। वेदों तथा उपनिषदों में कहीं भी चातुर्व्यूह का उल्लेख नहीं हैं। यद्यपि वैष्णव उपनिषदों

पूर्णमाभरणै. शुभ्रैः सुधाकल्लोलसङ्कुलैः।
....
एका मूर्तिरियं दिव्या पराख्या वैष्णवी परा ॥

वही, १०।५-१६

१—तावावां जगतोऽर्थाय बहुधा विक्रियावहे।

वही, १०।७

२—सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः।
अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः ॥
....
निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम्।
एकं तच्चिद्घनं शान्तमुदयास्तमयोज्झितम् ॥

वही, २।८-१०

में चातुर्व्यूह का प्रतिपादन है तथापि ये उपनिषद् बहुत बाद के हैं और पाञ्च-रात्र आगमों से पूर्णतः प्रभावित हैं। अन्य उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं जिनसे ब्रह्म का बहुधाभवन ज्ञात होता है[१], किन्तु चतुर्धाभवन का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। अतः चातुर्व्यूह पाञ्चरात्र आगमों की ही मूल कल्पना है।[२]

सृष्टि आदि व्यापार के लिए परवासुदेव चार प्रकार के रूपों में अवतरित होता है। इसे व्यूहावतार कहते हैं। पाञ्चरात्र आगमों में इन चार व्यूहों को चातुर्व्यूह कहा गया है। इन चार व्यूहों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) वासुदेव
(२) सङ्कर्षण
(३) प्रद्युम्न
(४) अनिरुद्ध

यहाँ यह स्पष्ट है कि यह नामकरण वासुदेव कृष्ण के बड़े भाई बलराम या सङ्कर्षण, पुत्र प्रद्युम्न, तथा पौत्र अनिरुद्ध के नामों पर आधृत है।[३]

वासुदेव षाड्गुण्य-सम्पन्न है। सङ्कर्षण ज्ञान तथा बल, प्रद्युम्न ऐश्वर्य तथा वीर्य और अनिरुद्ध शक्ति और तेज से युक्त हैं।[४] सङ्कर्षण का कृत्य प्रलय,

---

१—यथा—'स एकधा भवति त्रिधा भवति।'

छान्दोग्य०, ७।२६।२

२—इस विषय में जितेन्द्र नाथ बनर्जी का कथन है—

"The doctrine of the Vibhavas (Avatāras, i.e. incarnatory forms), was no less a component part of the Pāñcrātra or Bhāgavata creed than that of the Vyūhas. The difference between the two lies in the fact that we have some evidence ragarding the existence of the former in the later vedic texts whereas none about the existence of later in them."

The Development of Hindu Iconography,

P. 388.

3—*I. Pāñ*, p. 35

४—अतो ज्ञानबले देवः सङ्कर्षण उदीर्यते॥
ऐश्वर्यवीर्ये प्रद्युम्नोऽनिरुद्धः शक्तितेजसी।

प्रद्युम्न का सृष्टि तथा अनिरुद्ध का स्थिति है। साथ ही शास्त्र का उपदेश, प्रवर्तन तथा शास्त्रार्थफल का निर्वाह क्रमशः इनके अन्य कृत्य हैं।[१] कल्पभेद से प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के कृत्यों में भेद आ जाता है। उस अवस्था में अनिरुद्ध सृष्टिकर्त्ता तथा प्रद्युम्न पालनकर्त्ता होते हैं और सङ्कर्षण प्रलय के ही कर्ता होते हैं।[२] इन चारों व्यूहों का कुछ भी भौतिक नहीं, अङ्ग, प्रत्यङ्ग, बुद्धि आदि सब कुछ दिव्य है।[३]

वस्तुतः इन व्यूहों में वास्तविक भेद भी नहीं सोचा जा सकता है। कल्पनावश उन कार्यों की सिद्धि के लिए यह भेद किया जाता है। उपासकों की रुचि के अनुकूल, ध्यान-सौकर्य के लिए इस चातुर्व्यूह की कल्पना की गयी है।[४] चारों व्यूह सदा शक्तिसम्पन्न हैं। लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया क्रमशः चारों व्यूहों की शक्तियों के नाम हैं।[५]

वासुदेव

परवासुदेव से व्यूहवासुदेव का आविर्भाव होता है। यह प्रथम व्यूह है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज इन छहों गुणों का जब तुल्य उन्मेष

आद्यस्त्वभिन्नषाड्गुण्यो ब्रह्मतत्त्वापृथक्स्थितौ ॥

ल० तं०, २।५३, ५४

१—क्रमशः प्रलयोत्पत्तिस्थितिभिः प्राण्यनुग्रहः।
प्रयोजनमथान्यच्च शास्त्रशास्त्रार्थतत्फलैः॥

वही, २।५७

२—सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्युम्नः पाति तत्कृतम्।
सृष्टं तद्रक्षितं चात्ति स च सङ्कर्षणः प्रभुः॥

ल० तं०, ४।१९

३—अङ्गप्रत्यङ्गबुद्ध्यादिर्नैषां भूतमयः स्मृतः।
षाड्गुण्यमय एवैषां दिव्यो देहः सनातनः।

वही, ४।२२

४—मयैताः कल्पिताः शक्र ध्यानविश्रामभूमयः।

वही, ४।२४

५—लक्ष्मीकीर्तिर्जया माया व्यूहशक्तय ईरिताः।

वही, २०।३४

होता है, तो उसे वासुदेव कहते हैं।[1] पररूप वर्णन के प्रसङ्ग में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि षाड्गुण्य का उन्मेष ही व्यूहवासुदेव को परवासुदेव से पृथक् करता है। वैसे षाड्गुण्य-सम्पन्न तो परवासुदेव भी है। व्यूह वासुदेव के छहों गुणों में उन्मेष सृष्टि आदि के लिए ही होता है। वासुदेव की शक्ति का नाम लक्ष्मी है।[2]

वासुदेव ध्येय है। अर्थात् वासुदेव ध्यान के योग्य स्वरूप से सम्पन्न हैं। परवासुदेव का प्रयोग ब्रह्म के प्रचलित अर्थ में ही किया जाता है, तथा वासुदेव या व्यूह-वासुदेव का प्रयोग ईश्वर के अर्थ में किया जाता है। ध्यान के योग्य स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है[3] कि यह ईश्वर का रूप हिम, कुन्द और चन्द्रमा के समान कान्तिमान् है, चार भुजाओं से युक्त, सौम्यवक्त्र, कमल-नयन, पीले रेशमी वस्त्र को धारण किये हुए तथा गरुडध्वज से भूषित है। मुख्य दाहिने हाथ से अभय का दान करते हुए, मुख्य बाँयें हाथ में शङ्ख को धारण किये हुए, दूसरे दाहिने हाथ में सुदर्शन को लिए हुए, तथा पृथ्वीतल पर रखी हुई गदा को दूसरे बाँये हाथ में धारण किये हुए वासुदेव का स्वरूप ध्येय है।

सङ्कर्षण

दूसरा व्यूह है—सङ्कर्षण। सङ्कर्षण को बल नाम से भी अभिहित किया

१—ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
उन्मिषन्ति यदा तुल्यं वासुदेवस्तदोच्यते॥

वही, ४।१३

२—वही, २०।३४

३—तत्राद्यं भगवद्रूपं हिमकुन्देन्दुकान्तिमत्।
चतुर्भुजं सौम्यवक्त्रं पुण्डरीकनिभेक्षणम्॥
पीतकौशेयवसनं सुपर्णध्वजभूषितम्।
मुख्यदक्षिणहस्तेन भीतानामभयप्रदम्॥
तथाविधेन वामेन दधानं शङ्खमुत्तमम्।
अपरेण दधानं च दक्षिणेन सुदर्शनम्॥
वामेन च गदां गुर्वीं निषण्णां वसुधातले।
सञ्चिन्तयेत् पुरो भागे वासुदेवमितीदृशम्॥

वही, १०।२७-३१

जाता है।[१] पुराणों में सङ्ककर्षण के बहुत में नामों का उल्लेख है,[२] परन्तु सङ्कर्षण, राम और बल, ये तीन अधिक प्रसिद्ध नाम हैं।[३] सङ्कर्षण को जीवाभिमानी कहा गया है। वासुदेव में तो षाड्गुण्य-क्रम का स्फुट अवभास नहीं होता, किन्तु उसके पश्चात् सङ्कर्षण आदि व्यूहों में इनका अवभास कुछ क्रम से होता है।[४] यह षाड्गुण्य तीन युग्मों में विभाजित है—(१) ज्ञान और बल, (२) ऐश्वर्य और वीर्य, तथा (३) शक्ति और तेज। उस षाड्गुण्य से ज्ञान और बल नामक जिस प्रथम युग्म का उन्मेष होता है उसे सङ्कर्षण कहा जाता है।[५]

सृष्टि आदि के लिए इन व्यूहों का आविर्भाव होता है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय में सङ्कर्षण का कार्य प्रलय है, जिसका उद्देश्य प्राणियों पर अनुग्रह है।[६] इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है कि सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन तीनों व्यूहों का मुख्य प्रयोजन क्रमशः है—प्रलय, उत्पत्ति और स्थिति। अन्य प्रयोजन हैं क्रमशः—शास्त्रोपदेश, शास्त्रप्रवर्तन और शास्त्रार्थ-फल-निर्वाह।[७]

१—बलभित्येव तन्नाम ततो वेदान्तशब्दितम्।

वही, ४।१५

२—हरिवंश० अध्याय १३

३—गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुच्छ्रयात्॥

भागवत० १०।२।१३

४—ल० तं० २।३८

५—अतो ज्ञानबले देवः सङ्कर्षण उदीर्यते।
तेषां ज्ञानबलोन्मेषे सङ्कर्षण उदीर्यते।
व्यक्तज्ञानबलाख्यायां पूर्वं सङ्कर्षणात्मनि।
तिलकालकवत्सर्वो विकारो मयि तिष्ठति॥
तन्मां सङ्कर्षणात्मानं विदुर्ज्ञानबले बुधाः।

वही, २।५३,४।१४,२।४५,४६

६—वही, २।५७

७—वही, ४।१९, तथा—शास्त्रं सङ्कर्षणादेव भाति निर्घातशब्दवत्।
तत्क्रिया सकला देवात् प्रद्युम्नात् सम्भवेद्यतः॥
क्रियाफलमशेषं तदनिरुद्धात् प्रचक्षते।

वही, ४।१७, १८

सङ्कर्षण के ध्येय स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सिन्दूर के शिखर के समान आकार वाले, सौम्यवक्त्र, चार भुजाओं वाले, ताल से चिह्नित, अतसी पुष्प के समान वस्त्र को धारण करने वाले, वासुदेव के समान ही मुख्य दाहिने हाथ से अभय प्रदान करने वाले तथा मुख्य बाँयें हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले, दूसरे दाहिने हाथ में सीर तथा दूसरे बांये हाथ में मुसल को धारण करने वाले सङ्कर्षण ध्येय हैं।[1]

भारतीय इतिहास में प्राचीन समय से सङ्कर्षण या बलराम का बहुत महत्त्व रहा है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में सङ्कर्षण का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने सङ्कर्षण के मन्दिर का भी उल्लेख किया है[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक सङ्कर्षण या बलराम आराध्य देव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। पतञ्जलि का समय दो सौ वर्ष ईसापूर्व माना जाता है। उस समय सङ्कर्षण अधिक प्रसिद्ध देवता थे। मथुरा से प्राप्त तथा लखनऊ के राज्य-सङ्ग्रहालय में रक्षित सङ्कर्षण या बलराम की प्रतिमा दो सौ वर्ष ईसापूर्व की ही मानी जाती है।[4] उक्त प्रतिमा की फोटो प्रति यहां ग्रन्थाग्र पृष्ठ पर द्रष्टव्य है। इस प्रतिमा में सङ्कर्षण दो भुजाओं से ही युक्त हैं। इससे प्रतीत होता है कि लक्ष्मीतन्त्र में उक्त सङ्कर्षण के चतुर्भुजत्व की कल्पना प्राचीन नहीं है।

१—सिन्दूरशिखराकारं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम्॥
अतसीपुष्पसङ्काशवसनं ताललाञ्छितम्।
मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यमाद्यस्य वै विभोः।
सीरं तच्चक्रहस्तेऽस्य मुसलं तु गदाकरे।
दक्षिणे चिन्तयेद्भागे सङ्कर्षणमितीदृशम्॥

वही, १०।३१-३३

२—संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।

व्याकरणमहाभाष्य, २।२।२४

३—प्रासादे धनपतिरामकेशवादीनाम्।

व्याकरणमहाभाष्य, २।२।३४

यहाँ राम का अर्थ बलराम ही है। द्रष्टव्य—
The Development of Hindu Iconography p. 423.

४—वही,

प्रद्युम्न

अत्यधिक बल या तेज से सम्पन्न होने के कारण ही इनका नाम प्रद्युम्न है।[1] पूर्वोक्त छह गुणों में से जब ऐश्वर्य और वीर्य नामक गुणों का उन्मेष होता है, तो उस अवस्था में आविर्भूत होने वाले व्यूह का नाम प्रद्युम्न है।[2] प्रद्युम्न को मन का अभिमानी कहा गया है।

प्रद्युम्न का प्रधान कृत्य सृष्टि-कर्तृत्व है और दूसरा कृत्य शास्त्र का प्रवर्तन है।[3] कल्प-भेद में प्रद्युम्न सृष्टि-कर्ता न होकर पालन-कर्ता हो जाते हैं।[4] प्रद्युम्न के ध्यान-योग्य स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वर्षाकालीन रात में खद्योत समूह की सी प्रभा वाले, लाल रेशमी वस्त्र को धारण किये हुए, मकरध्वज से शोभित, सौम्यवक्त्र, चतुर्भुज, वासुदेव और सङ्कर्षण की भांति मुख्य दाहिने हाथ से अभय प्रदान करने वाले, मुख्य बाँये हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले, दूसरे बाँये हाथ में धनुष् तथा दूसरे दाहिने हाथ में बाणपञ्चक को धारण करले वाले प्रद्युम्न ध्यान के योग्य हैं।[5]

अनिरुद्ध

उपर्युक्त षाड्गुण्य में जब शक्ति और तेज नामक गुणों का समुन्मेष होता है, तो उससे आविर्भूत व्यूह को अनिरुद्ध कहते हैं।[6] पालनकर्तृत्व अनिरुद्ध का

१—प्रकृष्टं द्युम्नं बलं तेजो वा यस्येत्वन्वर्थं नाम।
ल० तं०टी०, २।४७

२—वीर्यैश्वर्यसमुन्मेषे प्रद्युम्नः परिकीर्तितः।
ल० तं०, ४।१५

३—वही, २।५७

४—वही, ४।१९

५—प्राविणिशासमुदितखद्योतनिचयप्रभम्।
रक्तकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम्॥
सौम्यवक्त्रं चतुर्बाहुं तृतीयं परमेश्वरम्।
मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्राग्वत्तुल्यं महामते॥
वामेऽपरस्मिन् शार्ङ्गं च दक्षिणे बाणपञ्चकम्।
अपरे चिन्तयेद् भागे प्रद्युम्नमिति कीर्तितम्॥
वही, १०।३४-३६

६—वही, ४।१६

प्रधान कृत्य है। इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थफल का निर्वाह भी अनिरुद्ध का कृत्य है।[१] कल्पान्तर में अनिरुद्ध पालनकर्ता न होकर सृष्टिकर्ता हो जाते हैं।[२] अनिरुद्ध को अहङ्कार का अभिमानी कहा गया है।[३] अनिरुद्ध के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि अञ्जन के पर्वत के समान कान्ति वाले, सुन्दर पीताम्बर को धारण किये हुए, चार भुजाओं से युक्त, विशाल नेत्र वाले, मृगलाञ्छन से भूषित, मुख्य दाहिने हाथ से अभय प्रदान करने वाले, मुख्य बाँयें हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले, अन्य दाहिने और बाँये हाथों में क्रम से खड्ग और खेटक को धारण करने वाले अनिरुद्ध का स्वरूप ध्येय है।[४]

चातुर्व्यूह-कल्पना का समय

वेदों तथा उपनिषदों में चातुर्व्यूह का उल्लेख न होने के कारण यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि चातुर्व्यूह की कल्पना का समय क्या है। जितेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस ओर ध्यान दिया है। मुख्य रूप से पतञ्जलि के महाभाष्य को आधार बनाते हुए उनका कहना है कि चातुर्व्यूह-कल्पना द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में ही सर्वप्रथम की गयी, ऐसा प्रतीत होता है।[५] उनका कथन मुख्य रूप से पतञ्जलि के अधोलिखित वाक्य पर आधृत है—

१—वही, २।५७

२—वही, ४।१९

३—वही, ४।१३

४—अञ्जनाद्रिप्रतीकाशं सुपीताम्बरवेष्टितम्।
चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाञ्छनभूषितम्॥
आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्य विचिन्तयेत्।
दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेटकौ॥
दधानमनिरुद्धं तु सौम्यभागे विचिन्तयेत्॥

वही, १०।३७-३९

५—The concept of cāturvyūhas seems to have been first formulated in the second century B.C., for Patañjali seems to refer to it.

पाद टिप्पणी में अपनी इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—
Mahābhāṣya (coment on VI, 3, 5), *Janārdanastvātma caturth eva*. The discovery of the Ist or

जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव[1]

इस उक्ति में चातुर्व्यूह की ओर सङ्केत प्राप्त होता है। पतञ्जलि का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना जाता है। अतः बनर्जी इसी समय को चातुर्व्यूह-कल्पना का समय मानते हैं। बेसनगर में प्राप्त प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० के वासुदेव, सङ्कर्षण और प्रद्युम्न के क्रमशः गरुड, ताल, और मकरध्वजों को वे सहायक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। महाभाष्य को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें उपर्युक्त पङ्क्ति उदाहृत है। यह पङ्क्ति वस्तुतः इस प्रकार है—

कथं–जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव इति[2]

यहां 'इति' पद के प्रयोग से भी ऐसी ही धारणा बनती है। सम्भव है कि यह किसी उपेन्द्रवज्रा छन्द की कोई पङ्क्ति हो। साथ ही यहाँ पर चातुर्व्यूह का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु इसका प्रचलित सिद्धान्त के रूप में उल्लेख किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि पतञ्जलि से पूर्व अर्थात् द्वितीय शताब्दी ई० पू० के पूर्व इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था, न कि द्वितीय शताब्दी में, जैसा कि बनर्जी का कथन है। यही बेसनगर से प्राप्त ध्वजों से भी ज्ञात होता है कि इनके निर्माण के पूर्व ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था।

व्यूहान्तर

उक्त व्यूहों से व्यूहान्तर नाम के बारह देव आविर्भूत होते हैं। वासुदेव आदि चारों देव केशव आदि तीन तीन रूपों में स्वयं को विभक्त कर देते हैं।

---

second century B. C. *dhvajas* of three of the *Vyūhas*, Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa and Pradyumna at Besnagar supports this statement, they are *Garudadhvaja*, *Tāldhvaja* and *Mina (Makara) dhvaja*.

Development of Hindu Iconography, pp. 387-88.

१—व्याकरणमहाभाष्य, ६।३।५

२—वही, ६।३।५

इस प्रकार आविर्भूत होने वाले बारह देवों को व्यूहान्तर कहा गया है।[1] चारों व्यूहों से आविर्भूत होने वाले व्यूहान्तरों के नाम इस प्रकार हैं—

वासुदेव	सङ्कर्षण	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
१–केशव	४–गोविन्द	७–त्रिविक्रम	१०–हृषीकेश
२–नारायण	५–विष्णु	८–वामन	११–पद्मनाभ
३–माधव	६–मधुसूदन	९–श्रीधर	१२–दामोदर

इन व्यूहान्तर देवों की शक्तियाँ या महिषियाँ भी संख्या में द्वादश हैं। क्रम से उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्री, (२) वागीश्वरी, (३) कान्ति, (४) क्रिया, (५) शान्ति, (६) विभूति, (७) इच्छा, (८) प्रीति, (९) रति, (१०) माया, (११) धी तथा (१२) महिमा।[2]

३—विभव

श्री वरवरमुनि ने विभव की परिभाषा इन शब्दों में की है—

विभवो नाम इतरसजातीयत्वेनाविर्भावः।[3]

तात्पर्य यह है कि अपने से इतर के सजातीय के रूप में आविर्भाव को विभव कहते हैं। अर्थात् सभी स्थावर जङ्गम के सजातीय के रूप में आविर्भूत होना।

१—चतसृभ्योऽथ शाखाभ्यः केशवाद्यं त्रयं त्रयम्।
दामोदरान्तमुद्भूतं तद् व्यूहान्तरमुच्यते॥
वासुदेवादयो व्यूहाः प्रत्येकं तु त्रिधा त्रिधा।
केशवादिस्वरूपेण विभजन्ति स्वकं वपुः॥
एतद्व्यूहान्तरं नाम पञ्चरात्राभिशब्दितम्।
कार्यस्य नयने देवाः द्वादशैते व्यवस्थिताः॥

ल० तं०, ११।३०, ४।२७-२८

२—श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिक्रियाशान्तिविभूतयः।
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च॥

वही, २०।२५

३—तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० १३०। इसके अतिरिक्त यतीन्द्र० ईश्वर० पृ० १३६ पर भी यही बात कही गई है—

विभवो नाम तत्तत् सजातीयरूपेणाविर्भावः।

यद्यपि लक्ष्मीतन्त्र में विभव का लक्षण नहीं किया गया है तथापि कहीं कहीं इसका अभिप्राय ज्ञात हो जाता है। यथा—

त्रिभोर्विशाखयूपस्य तत्तत्कार्यवशादिमे।
स्फूर्तयो विभवाः ख्याताः ... ...॥[१]

अर्थात् उन कार्यों के कारण विशाखयूप की स्फूर्तियों को विभव कहा जाता है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार इन विभवों के कारण अनिरुद्ध हैं।[२] विष्वक्सेनसंहिता की भी प्रायः यही स्थिति है।[३] किन्तु पाद्मतन्त्र की स्थिति दूसरी ही है। पाद्मतन्त्र के अनुसार प्रथमव्यूह अर्थात् वासुदेव से मत्स्य, कूर्म और वराह विभव आविर्भूत हुए। द्वितीय व्यूह सङ्कर्षण से नृसिंह, वामन, श्रीराम और परशुराम विभव आविर्भूत हुए। तृतीय व्यूह प्रद्युम्न से बलराम नामक विभव, तथा अनिरुद्ध नामक चतुर्थ व्यूह से श्रीकृष्ण और कल्कि विभवों का आविर्भाव माना गया है।[४]

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार पद्मनाभ आदि विभवों की संख्या ३८ है। यथा—

त्रिंशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः।[५]

इन ३८ विभवों के नाम निम्नलिखित हैं :—[६]

१—पद्मनाभ
२—ध्रुव
३—अनन्त
४—शक्तीश

१—ल० तं०, ११।२६

२—विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः।
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्त्वते॥
वही, २।५८–५९

इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है—
विभोरप्यनिरुद्धस्य हिताय जगतां हरेः।
प्रसारो विभवो नाम पद्मनाभादयः स्मृताः॥
वही, ४।२९

३—*I. Pāñ.*, p. 48

४—वही

५—ल० तं०, ११।३८

६—वही, ११।१९-२५

५–मधुसूदन	२२–कालनेमिघ्न
६–विद्याधिदेव	२३–पारिजातहर
७–कपिल	२४–लोकनाथ
८–विश्वरूप	२५–दत्तात्रेय
९–विहङ्गम	२६–न्यग्रोधशायी
१०–क्रोडात्मा	२७–एकशृङ्गतनु
११–बडवावक्त्र	२८–वामन
१२–धर्म	२९–त्रिविक्रम
१३–वागीश्वर	३०–नर
१४–एकार्णवान्तःशायी	३१–नारायण
१५–कमठ	३२–हरि
१६–यज्ञवराह	३३–कृष्ण
१७–नृसिंह	३४–परशुराम
१८–अमृताहरण	३५–श्रीराम
१९–श्रीपति	३६–वेदवित्
२०–कान्तात्मा	३७–कल्किन्
२१–राहुजित्	३८–पातालशयन

विभवों के कारण के विषय में जहाँ लक्ष्मीतन्त्र का पाद्मतन्त्र से विरोध था वहीं विभवों की संख्या को लेकर अहिर्बुध्न्यसंहिता से विरोध है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार विभवों की संख्या ३९ है।[१] सात्त्वत-संहिता पर भाष्य लिखते हुए अशलिङ्गभट्ट का कथन है कि लक्ष्मीतन्त्र में विशाखयूप का पृथक् निर्देश करके पद्मनाभ आदि ३८ विभवों की गणना की गई है।[२] सात्त्वत-संहिता में भी इसी प्रकार किया गया है। किन्तु अहिर्बुध्न्य-

---

१—विभवाः पद्मनाभाद्यास्त्रिंशच्च नव चैव हि।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः॥
....
त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः।

अहिर्बु०, ५।५०-५७

२—पद्मनाभादयोऽष्टत्रिंशद् देवाः, तेषामधिपतिर्विशाखयूपस्त्वेकः।
तेन सहैकोनचत्वारिंशद्देवा इत्यभिप्रायेण त्रिंशच्च नव चैवेते इत्युक्तं

संहिता में विशाखयूप का पृथक् निर्देश न करके पद्मनाभ पद से उसका भी ग्रहण किया गया है। इसकी पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। यथा सात्त्वतसंहिता की यह उक्ति—

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम्।[1]

यदि पद्मनाभ पद से विशाखयूप का भी ग्रहण न किया जाय तब तो अहिर्बुध्न्यसंहिता की विभव सूची में ध्रुवान्त तीन विभव होंगे ही नहीं, पद्मनाभ और ध्रुव ये दो विभव ही ध्रुवान्त होंगे। अतः सात्त्वत-संहिता की उक्ति का औचित्य जानने के लिए आवश्यक है कि विशाखयूप को भी विभव माना जाय और पद्मनाभ पद से विशाखयूप का ग्रहण किया जाय। यहाँ पारमेश्वरसंहिता की निम्नलिखित उक्ति भी विचारणीय है—

अब्जनाभं परं चैव पद्मनाभं ध्रुवं तथा।[2]

ईश्वरसंहिता (१०।१७४) में भी यही वाक्य इसी रूप में प्राप्त होता है।[3] वस्तुतः इन दोनों संहिताओं में प्रयुक्त अब्जनाभ और पद्मनाभ पद पर्याय हैं। यहां पर अब्जनाभ से विशाखयूप नामक विभव का ग्रहण किया गया है। यदि अब्जनाभ विशाखयूप हो सकता है तो उसका पर्याय पद्मनाभ भी विशाखयूप हो सकता है। अतः अहिर्बुध्न्य-संहिता में भी पद्मनाभ पद से विशाखयूप का ग्रहण किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर ३९ विभवों की सूची बहुत सरलता से तैयार हो जायगी। अर्थात् लक्ष्मीतन्त्र में उल्लिखित ३८ विभवों की जो सूची ऊपर प्रस्तुत की गयी है, वही सूची केवल एक संशोधन के साथ (विशाखयूप को प्रथम विभव मानकर) अहिर्बुध्न्यसंहिता को भी मान्य होगी।

ऐसा मान लेने पर एक दूसरा प्रश्न उठता है। श्रैडर महोदय ने अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार ३९ विभवों की सूची प्रस्तुत की है।[4] इसमें

इति बोध्यम्।

सात्त्वतसंहिता, अशलिङ्गभट्ट-भाष्य, ९।७७-८३
(अप्रकाशित, पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी के सौजन्य से)

१—सात्त्वतसंहिता, १२।३
२—पारमेश्वरसंहिता, १६।१५९
३—ल० तं० उ०, पृ० २१, २२
४—*I. Pañ.* p. 42

शान्तात्मा नामक पचीसवें विभव का उल्लेख किया गया है। पण्डित कृष्णमाचार्य ने इसके औचित्य का प्रश्न उठाया है।[1] यदि हम विशाखयूप को प्रथम विभव मान लेते हैं तो विभव संख्या ४० हो जायगी, जो अभीष्ट नहीं है। किन्तु विशाखयूप भी एक विभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि अहिर्बुध्न्यसंहिता[2] में शान्तात्मा पद किसी विभव का नाम न होकर लोकनाथ नामक विभव का विशेषण है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो प्रस्तुत समस्याएं सुलझ जाँयगी।

अब इसी प्रसङ्ग में वरवरमुनि का मत भी विचारणीय है। इनका कथन है कि केवल ३६ विभव हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता में उक्त ३९ विभवों में तीन आवेशावतार हैं। इनके अनुसार कपिल, दत्तात्रेय और परशुराम आवेशावतार हैं,[3] किन्तु श्रैडर के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है। उनका कहना है कि इन ३९ विभवों के अन्दर और बाहर और भी आवेशावतार हैं।[4]

इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि प्राणियों पर अनुग्रह करना ही इन अवतारों का प्रयोजन है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही ईश्वर पर, व्यूह, विभव तथा अर्चा रूपों को स्वीकार करता है।[5] लोकाचार्य भगवद्गीता में उक्त[6] साधुपरित्राणादि तीन कृत्यों को अवतारों का फल मानते हैं। उनके अनुसार—

१—ल० तं० उ०, पृ० २२
'लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः' अहिर्बु०, ५।५४ के आधार पर श्रैडर महोदय ने शान्तात्मन् नामक विभव की कल्पना की है।

२—अहिर्बु०, ४।५४

३—षट्त्रिंशद्भेदभिन्ना इत्यस्य अत्रैकोनचत्वारिंशत्सु त्रयाणामवमः कार्यः, ते च कपिलदत्तात्रेयपरशुरामा आवेशावताराः।
तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० १३५

४—*I. Pāñ*, p. 47

५—अनुग्रहाय जीवानां भक्तानामनुकम्पया।
परव्यूहादिभेदेन देवदेवप्रवृत्तयः॥
ल० तं०, ११।१४

६—भ० गी०, ४।८

फलं साधुपरित्राणादित्रयम्[१]

यद्यपि यह सब लक्ष्मीतन्त्र में इस रूप में नहीं है, तथापि इसमें कहीं विरोध भी नहीं है।

ये सभी विभव अपनी शक्तियों से सम्पन्न हैं। इस प्रकार ३८ विभवों की ३८ शक्तियां हैं।[२]

विभवान्तर

आविश्याविश्य कुरुते यत्र देवनरादिकम् ।
जगद्धितं जगन्नाथस्तज्ज्ञेयं विभवान्तरम् ।।[३]

जब ईश्वर देव, नर आदि रूपों में आविष्ट होकर संसार का हित करता है तो उस रूप को विभवान्तर कहा गया है।[४] इस श्लोक में 'आविश्याविश्य' पद से भी यह ज्ञात होता है कि विभवान्तर के लिए आवेशावतार पद का प्रयोग किया जा सकता है। विभव के प्रकारों का विवेचन करते हुए वरवरमुनि का कथन है—

१—तत्त्वत्रय, पृ० १३८

२—इन शक्तियों के नाम निम्नलिखित हैं :–

(१) धी, (२) तारा, (३) वारुणी, (४) शक्ति, (५) पद्मा, (६) विद्या, (७) संख्या, (८) विश्वा, (९) खगा, (१०) भू, (११) गौ, (१२) लक्ष्मी, (१३) वागीश्वरी, (१४) अमृता, (१५) धरणी, (१६) छाया, (१७) नारसिंही, (१८) सुधा, (१९) श्री, (२०) कीर्ति, (२१) विश्वकामा, (२२) मा, (२३) सत्या, (२४) कान्ति, (२५) सरोरुहा, (२६) माया, (२७) पद्मासना, (२८) खर्वा, (२९) विक्रान्ति, (३०) नरसम्भवा, (३१) नारायणी, (३२) हरिप्रीति, (३३) गान्धारी, (३४) काश्यपी, (३५) वैदेही, (३६) वेदविद्या, (३७) पद्मिनी, (३८) नागशायिनी।

ल० तं०, २०।४५-४८

३—ल० तं०, ४।३०

४—द्रष्टव्य—यांस्तु लोकोत्तरान् महनीयांश्च देवमनुष्यादीन् स्वशक्त्यांशेन वाविश्य जगद्धितं भगवान् करोति, ते विभवान्तरपदवाच्याः... ।

ल० तं० ३०, पृ० २०

'इति चोक्तप्रकारेण विभवः परिगणनाऽशक्योऽनन्तो, गौणमुख्यभेदेन द्विविधश्चेत्यर्थः ..गौण आवेशावतारः मुख्यः साक्षादवतारः, आवेशश्च स्वरूपावेशशक्त्यावेश इति द्विविधः...।'[1]

देव और मनुष्य आदि के रूप में जो आवेश होता है वह भी दो प्रकार से होता है—१. स्वरूपावेश, और २. शक्त्यावेश। लक्ष्मीतन्त्र में विभवान्तर का अर्थमात्र बताया गया है। कौन कौन अवतार विभवान्तर कोटि में आते हैं इत्यादि विवेचन को महत्त्व नहीं दिया गया है।

४—अर्चा

लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित ईश्वर के चार रूपों में चतुर्थ और अन्तिम है—अर्चारूप। अर्चा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि देव, ऋषि, पितृ और सिद्ध आदिकों ने स्वयं ही या जगत् के हित के लिए जिस भगवद् रूप का निर्माण किया है उसे अर्चा रूप कहते हैं।[2] ईश्वर के अर्चा रूप पर भी लक्ष्मीतन्त्र में स्वल्प ही विवेचन किया गया है। पाञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार योगियों के हृदयालम्बन में सौकर्य के लिये उनके द्वारा स्वर्ण आदि से बनायी गयी प्रतिमा को अर्चा कहते हैं। मन्त्रों के द्वारा उस प्रतिमा में ईश्वर की प्रतिष्ठा होती है। ईश्वर-सान्निध्य के कारण वे प्रतिमाएं अप्राकृत, षाड्गुण्य परिपूर्ण और भगवन्मयी हो जाती हैं।[3]

१—तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० १३०

२—देवर्षिपितृसिद्धाद्यैः स्वयं वा जगतां हिते।
निर्मितं भगवद्रूपमर्चा सा शुद्धचिन्मयी॥

ल० तं०, ४।३१

३—अर्चा च योगिनां चित्तालम्बनसौकर्याय तैर्यथारुचि परिगृहीतः सुवर्णरजतादिनिर्मितः प्रतिमाविशेषः। तत्र च मन्त्रविशेषमहिम्ना भगवान् सन्निहितो भवति, भगवत्सन्निधानेन च ताः प्रतिमा अप्राकृताः षाड्गुण्यपरिपूर्णा भगवन्मया भवन्तीति पाञ्चरात्रसिद्धान्तः।

ल० तं० उ०, पृ० २०

विष्णुधर्म (१३०।१६,३०) में अर्चा का अर्थ बताते हुए कहा गया हैं—

सुरूपां प्रतिमां विष्णोः प्रसन्नवदनेक्षणाम्।
कृत्वात्मनः प्रीतिकरीं सुवर्णरजतादिभिः॥

५–अन्तर्यामी

लक्ष्मीतन्त्र में ईश्वर के चातूरूप्य का ही प्रतिपादन है। किन्तु कतिपय अन्य संहिताओं में ईश्वर के पाँच रूप माने गये हैं। वह पाँचवा रूप है—अन्तर्यामी। भक्तों के हृदय के आलम्बन के लिए उनके हृदय में ईश्वर का निवास होता है। ईश्वर के उस रूप को अन्तर्यामी रूप कहते हैं। अन्तर्यामित्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए लोकाचार्य का कथन है—

'अन्तर्यामित्वमन्तःप्रविश्य नियन्तृत्वम्।'[१]

जीव के साथ प्रत्येक अवस्था में वर्तमान रहता हुआ भी ईश्वर जीवगत दोषों से सर्वथा असंसृष्ट रहता है।[२] ईश्वर के इस अन्तर्यामी रूप को ही परमात्मा, अन्तरात्मा आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। उपनिषदों के अनेक वाक्य इस रूप में प्रमाण हैं।[३] यह ईश्वर का अन्तर्यामी स्वरूप है। किन्तु लक्ष्मीतन्त्र में चार रूपों का ही वर्णन किया गया है। पाञ्चरात्र आगम की कतिपय संहिताओं द्वारा स्वीकृत ईश्वर का अन्तर्यामी रूप लक्ष्मीतन्त्र को स्वीकार्य नहीं।

षाड्गुण्य

पाञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अनन्त कल्याणगुणों से सम्पन्न है। अनन्त गुणों से सम्पन्न होने पर भी छह गुणों में अनन्त कल्याणगुण

तामर्चयेत्तां प्रणमेत्तां यजेत्तां विचिन्तयेत्।
विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम्।

वही, उदाहृत

१—तत्त्वत्रय, पृ० १३९

२—अन्तर्यामित्वं नाम स्वर्गनरकाद्यनुभवदशायामपि जीवात्मनः सुहृत्त्वेन योगिभिर्द्रष्टव्यतया हृदयप्रदेशावस्थितं रूपम्। जीवेन साकं विद्यमानोऽपि तद्गतदोषैः असंसृष्टौ वर्तते।

यतीन्द्र० ईश्वर, पृ० १३९

३—अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्—तै० आ०, ३।११।१ नियन्ता सर्वदेहिनाम्,

I. Pañ, p. 49 पर उदाहृत

अन्तर्निहित हैं।[1] ईश्वर के ये सभी गुण स्वाभाविक तथा पर हैं।[2] ईश्वर के प्रमुख छह गुणों का उल्लेख करते हुए लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोमहोदधिः।
षण्णां युगपत्———————— ॥[3]

छह गुण ये हैं—

१—ज्ञान	४—ऐश्वर्य
२—शक्ति	५—वीर्य
३—बल	६—तेज

विष्णुपुराण में भी इन्हीं छह गुणों से ईश्वर को सम्पन्न कहा गया है।[4]

यह सभी गुण पर-वासुदेव तथा व्यूह-वासुदेव के गुण हैं। अन्तर यह है कि वासुदेव में यह सभी गुण शान्त अवस्था में रहते हैं जब कि व्यूह-वासुदेव में यह गुण उदित अवस्था में रहते हैं।

१. ज्ञान

छहों गुणों में ज्ञान ईश्वर का स्वरूप-निरूपक गुण है।[5] इस गुण का अभिप्राय यही है कि ईश्वर सदा स्वतः ही सब पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष रूप से जानता है। ज्ञान का अर्थ बताते हुए वेदान्तदेशिक का कथन है—

ज्ञानमिह सर्वसाक्षात्काररूपम्।[6]

१—तवानन्तगुणस्यापि षडेव प्रथमे गुणाः।
यैस्त्वयेव जगत् कुक्षावन्येऽप्यन्तर्निवेशिताः॥
शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

२—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
श्वेत० उ०, ६।८

३—ल० तं०, ७।५

४—ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
विष्णुपुराण, ६।५।७९

५—ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्राह्मणो मम चोभयोः॥
ल० तं०, २।२५

६—शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११,
यहीं पर वेदान्तदेशिक ने नाथमुनि के इस कथन को उदाहृत किया है—
यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः।

प्रायः इसी कारण श्रुतियों में इसे सर्वज्ञ या सर्ववित् आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[1] लक्ष्मीतन्त्र में ज्ञान को ईश्वर का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अहम् इस आन्तरिक रूप को ज्ञानरूप कहा जाता है। स्फटिक आदि के समान ज्ञान प्रकाश आदि स्वरूप वाला होता है। इसी कारण ईश्वर को ज्ञानरूप कहा जाता है। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में—

अहमित्यान्तरं रूपं ज्ञानरूपमुदीर्यते।
प्रकाशादिकं रूपं स्फटिकादिसलक्षणम्।
अतस्तु ज्ञानरूपत्वं मम नारायणस्य च॥[2]

२. शक्ति

ज्ञान नामक प्रथम गुण तो ईश्वर का स्वरूप-निरूपक धर्म था, किन्तु शक्ति आदि अन्य पाँच गुण ज्ञान नामक स्वरूप के धर्म हैं। ज्ञान को ईश्वर का स्वरूप बताने के बाद शेष पाँच गुणों के बारे में लक्ष्मीतन्त्र का कथन है—

शेषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्मः सनातनः।[3]

अर्थात् शेष पाँच गुण ज्ञान नामक स्वरूप के विशेषण या धर्म हैं। शक्ति नामक द्वितीय गुण का अर्थ स्पष्ट करते हुए वेदान्तदेशिक का कथन है—

···सर्वोपादानात्मिका। यद्वा यदन्यैरशक्यत्वादघटितमिव भाति, तद् घटनसामर्थ्यरूपा।[4]

अर्थात् शक्ति नामक गुण का अभिप्राय है कि यह सम्पूर्ण जगत् की कारण है, अथवा अन्यों के द्वारा अशक्य होने के कारण जो अघटित सा प्रतीत होता है उसके भी घटन की सामर्थ्य रूप वाली है। इसी गुण के द्वारा ईश्वर जगत् का कारण बनता है, तथा अघटितघटनासमर्थ होता है। लक्ष्मीतन्त्र में जगत्कारणत्व को ही शक्ति कहा गया है।[5] ईश्वर के जगत् के रूप में होने को शक्ति कहते हैं। जगत्प्रकृतिभाव कहने से ईश्वर में विकारित्व दोष की

१—यस्सर्वज्ञः सर्ववित्।
मु० उ०, १।१।९, २।२।७

२—ल० तं०, २।२६, २७

३—वही, २।२६

४—शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

५—जगत्प्रकृतिभावो मे यः सा शक्तिरितीर्यते।
ल० तं०, २।२९

सम्भावना हो जाती है, परन्तु वस्तुतः यह जगत्प्रकृतिभाव स्वरूपतः न होकर, प्रकारभूत चिद् और अचिद् के द्वारा होता है।[1]

३. बल

ईश्वर का तीसरा गुण है—बल। बिना किसी श्रम के पदार्थों को धारण करने की सामर्थ्य को बल कहते हैं।[2] सृष्टि करते समय जो श्रम का अभाव होता है उसे बल कहते हैं और उस कार्य का भरण करना भी बल है।[3] इस गुण के ही कारण ईश्वर अनायास ही सृष्टि करता है तथा अनायास ही उसको धारण भी करता है।

४. ऐश्वर्य

सर्वनियन्ता होना या अव्याहतेच्छ होना ऐश्वर्य का अभिप्राय है।[4] सृष्टि करने की इच्छा में जो अव्याहति है, उसे ऐश्वर्य कहते हैं। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में—

अव्याहतिर्यदुद्यत्यास्तदैश्वर्यं परं मम।
इच्छेति सोच्यते तत्तत्त्वशास्त्रेषु पण्डितैः॥[5]

१—देव्या जगत्प्रकृतिभावो न स्वरूपतः, तथात्वे विकारित्वप्रसङ्गात्। किन्तु स्वप्रकारभूतचिदचिदात्मनेति द्रष्टव्यम्।

ल० तं० टी०, २।२९

२—बलं नाम श्रमप्रसङ्गरहितं सर्वसाधारणसामर्थ्यम्।

शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

३—सृजन्त्या यच्छ्रमाभावो मम तद् बलमिष्यते।
भरणं यच्च कार्यस्य बलं तच्च प्रचक्षते॥

ल० तं०, २।२९, ३०

४—ऐश्वर्यं—अव्याहतेच्छं सर्वनियन्तृत्वं…।

शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

५—ल० तं०, २।२८, यही बात निम्नलिखित पंक्तियों में भी द्रष्टव्य है—

सिसृक्षाया ममोद्यन्त्या देवाल्लक्ष्मीपतेः स्वयम्।
अव्याहृतमसंकोचमैश्वर्यं प्रविजृम्भते॥

वही, २।२३,२४

५. वीर्य

इस गुण का अभिप्राय है कि यद्यपि ईश्वर सबका कारण है और सर्वनियन्ता है, तथापि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता है। इस प्रकार से निर्विकार रहने को ही वीर्य कहते हैं । वेदान्तदेशिक ने वीर्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वीर्य का अर्थ है सबका कारण होते हुए सबका धारण करते हुए तथा सबका नियमन करते हुए भी विकारशून्यता ।[१] वेदान्तदेशिक ने वीर्य का यह लक्षण करके इसकी पुष्टि के लिए लक्ष्मीतन्त्र की ही उक्ति प्रमाण के रूप में उदाहृत की है। अतः यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मीतन्त्र के वीर्य सम्बन्धी विचार का ही अनुवाद वेदान्तदेशिक ने उपर्युक्त पंक्तियों में किया है ।

शक्ति नामक गुण के द्वारा ही ईश्वर का जगत्प्रकृतिभाव होता है। जगत्प्रकृतिभाव होने पर भी ईश्वर में जो विकारराहित्य है उसे वीर्य कहते हैं। ऐश्वर्य के अंश विक्रम को भी वीर्य कहा गया है ।[२]

६. तेज

ईश्वर का छठा और अन्तिम गुण है—तेज । इस गुण का अर्थ है कि किसी अस्वाधीन सहकारी कारण की अपेक्षा का न होना, तथा दूसरों को अभिभूत कर लेने का सामर्थ्य ।[३] लक्ष्मीतन्त्र में तेज का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि सब कार्यों के करने में सहकारी की अपेक्षा के न होने को तेज नामक गुण कहा गया है। कुछ लोग तेज को दूसरों को अभिभूत कर लेने की

१—वीर्यं सर्वोपादानत्वे सर्वधारणे सर्वनियमनेऽपि विकाररहितत्वम् ।

शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

२—विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा।
स्वभावं हि जहात्याशु पयो दधिसमुद्भवे ॥
जगद्भावेऽपि सा नास्ति विकृतिर्मम नित्यदा ।
विकारविरहो वीर्यमतस्तत्त्वविदां मतम् ॥
विक्रमः कथितो वीर्यमैश्वर्यांशः स तु स्मृतः ।

ल० तं०, २।३१।३३

३—तेजः अस्वाधीनसहकार्यनपेक्षत्वम् ।

शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

सामर्थ्य कहते हैं, तथा कुछ लोग तेज को ऐश्वर्य से सम्बद्ध करते हैं।[१]

इस प्रकार ये ईश्वर के छह गुण हैं। इनमें प्रथम ज्ञान ईश्वर का स्वरूप निरूपक धर्म है, तथा अन्य पांच ज्ञान के विशेषण या धर्म हैं। इन गुणों के द्वारा ईश्वर का परत्व किस प्रकार सिद्ध होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेदान्तदेशिक का कथन है कि लोक में जिस प्रकार कोई स्वाप (सुषुप्ति) आदि अवस्थाओं में अपनी विभूति को नहीं जानता है, और जब जानता है तो उसे धारण नहीं कर पाता, अपनी विभूति को जानकर और धारण करते हुए भी उन पर हर प्रकार से नियन्त्रण नहीं रख पाता, नियन्त्रण में समर्थ होता हुआ भी धारण या नियमन के कारण ग्लानि का अनुभव करता है, न थकने पर भी उनकी सत्ता और स्थिति में कारण नहीं बन पाता, और यदि कारण बन भी जाय तो वह पराधीन सहकारिकारण की अपेक्षा रखता है। किन्तु ईश्वर ऐसा नहीं है। गुणों के क्रम का यही अभिप्राय है।[२] यहां वेदान्तदेशिक ने षाड्गुण्य के जिस क्रम को स्वीकार किया है वह विष्णुपुराण तथा लक्ष्मीतन्त्र आदि में कहे गये क्रम से भिन्न है। वेदान्तदेशिक ने इन गुणों को इस क्रम से रखा है—(१) ज्ञान, (२) बल, (३) ऐश्वर्य, (४) वीर्य, (५) शक्ति और (६) तेज; जब कि लक्ष्मीतन्त्र आदि का स्वीकृत क्रम है—(१) ज्ञान, (२) शक्ति, (३) बल, (४) ऐश्वर्य, (५) वीर्य और (६) तेज। वेदान्तदेशिक ने इस क्रम में परिवर्तन किया है। बल, ऐश्वर्य, और वीर्य को शक्ति और तेज के मध्य से निकाल कर ज्ञान और शक्ति के मध्य में रख दिया है। क्रम में परिवर्तन का प्रयोजन उपर्युक्त ढंग से गुणों में पूर्वापर

१—सहकार्यनपेक्षा मे सर्वकार्यविधौ हि या।
तेजः षष्ठं गुणं प्राहुस्तमिमं तत्त्ववेदिनः॥
पराभिभवसामर्थ्यं तेजः केचित् प्रचक्षते।
ऐश्वर्ये योजयन्त्येके तत्तेजस्तत्त्वकोविदाः॥

ल० तं०, २।३३-३५

२—लोके कश्चित् स्वापावस्थायां स्वविभूतिं न जानाति, जानन्नपि न धारयति, ज्ञात्वा धारयन्नपि च न सर्वथा नियन्तु शक्नोति, शक्तोऽपि धारणनियमनाभ्यां ग्लानो भवति, अग्लानोऽपि न तत्सत्तास्थितिहेतुस्स्यात्, तद्धेतुश्च पराधीनसहकारिसापेक्षः स्यात्, नैवमसाविति गुणक्रमोक्तितात्पर्यम्।

शरणागतिगद्यभाष्य, पृ० १११

सम्बन्ध की स्थापना ही रहा होगा। चातुर्व्यूह के साथ षाड्गुण्य का किस प्रकार का सम्बन्ध है, यह चातुर्व्यूह विवेचन के समय स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में श्रीरङ्गराजस्तव का यह श्लोक अधिक स्पष्ट है—

षाड्गुण्याद्वासुदेवः पर इति स भवान् मुक्तभोग्यो बलाढ्याद्,
बोधात् सङ्कर्षणस्त्वं हरसि वितनुषे शास्त्रमैश्वर्यवीर्यात्।
प्रद्युम्नः सर्गधर्मौ नयसि च भगवन् शक्तितेजोऽनिरुद्धो,
बिभ्राणः पासि सत्त्वं गमयसि च तथा व्यूह्य रङ्गाधिराज॥[1]

विशाखयूप

लक्ष्मीतन्त्र के ग्यारहवें अध्याय में विशाखयूप का वर्णन है। चातुर्व्यूह का विशाखयूप के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। चातुर्व्यूह आदि के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा गया था कि जीवों पर अनुग्रह तथा भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए ही वासुदेव इन रूपों को धारण करता है।[2] जहां तक विशाखयूप के प्रयोजन का प्रश्न है, योगियों के ध्यान का अवलम्बन होना ही उसका प्रयोजन है। विभिन्न प्रकार के योगी होते हैं। उनकी चार अवस्थाएं होती हैं—(१) जाग्रत्, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति और (४) तुरीय।[3] इन चारों अवस्थाओं के योगियों के ध्यान का अवलम्बन बनना ही विशाखयूप का प्रयोजन है। अप्राकृत दिव्यलोक में अर्थात् बैकुण्ठ में विशाखयूप नाम का प्रकाशमान्, ज्योतिर्मय, स्तम्भाकार ईश्वर का रूपविशेष है। उसमें अधोभाग से लेकर चतुरश्र चार भाग हैं। प्रत्येक भाग के चारों पार्श्वों में परवासुदेव ही अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव के रूपों में अधिष्ठित है।[4] प्रथम भाग जाग्रत् पद के अभिमानी अनिरुद्ध से अधिष्ठित है। इस भाग में सभी व्यूहदेव

१—ल० तं० उ०, पृ० २७, पर उदाहृत

२—ल० तं०, ११।४१

३—इस प्रसङ्ग में श्रीरङ्गराजस्तव का कथन है—

जाग्रत्स्वप्नात्यलसतुरीयप्रायध्यात्क्रमवदुपास्यः।
स्वामिंस्तत्तद्गुणपरिबहश्चातुर्व्यूहं वहसि चतुर्धा॥

ल० तं० उ०, पृ० २५ पर उदाहृत

४—विशाखयूपो नामाप्राकृते दिव्यलोके भ्राजमानो ज्योतिर्मयः स्तम्भाकारो भगवद्रूपविशेषः। तत्राधोभागमारभ्य ऊर्ध्वभागपर्यन्तं चत्वारि पर्वाणि क्रमेणानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवाधिष्ठितानि स्पष्टस्पष्टतरकिञ्चित्स्प-

अपने आयुध, वाहन, महिषी आदि परिच्छदों के सहित स्पष्ट रूप में प्रकाशित होते हैं। जाग्रत् पदस्थ उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए यह इस रूप में भासित होते हैं। इसके ऊपर द्वितीय भाग हैं। यह भाग स्वप्न स्थान के अभिमानी प्रद्युम्नप्रधान है। इस भाग में सभी व्यूहदेव अस्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होने वाले और मलिनप्राय आयुध, वाहन, और महिषी आदि परिच्छेदों से युक्त होते हैं। इसका प्रयोजन स्वप्नावस्था वाले उपासकों पर अनुग्रह करना है। इस द्वितीय भाग के ऊपर स्थित तृतीय भाग, सुषुप्ति स्थान के अभिमानी सङ्कर्षण से अधिष्ठित है। यहां पर उन व्यूहदेवों के आयुध, वाहन, तथा महिषी आदि परिच्छद रेखामात्र रूप में दृश्य होते हैं (सुषुप्ति स्थान के उपासकों पर अनुग्रह करना इनका प्रयोजन है। इसके ऊपर तुरीय भाग है। तुरीय स्थान के अभिमानी देवता वासुदेव हैं। यहां आयुध, वाहन, महिषी आदि परिच्छद अत्यन्त अदृश्य रूप में होते हैं या शून्यकल्प हो जाते हैं। तुरीयावस्था में स्थित उपासकों पर अनुग्रह करना इसका प्रयोजन है।[1] विशाखयूप को ब्रह्म-यूप भी कहते हैं। लक्ष्मीतन्त्र के उपोद्घात में पं० वी० कृष्णमाचार्य ने एक रेखाचित्र के द्वारा विशाखयूप को स्पष्ट किया है।[2] वह रेखाचित्र यहां यथावत् प्रस्तुत है—

तुर्यस्थानम्	—व्यूहचतुष्कं	रेखारूपेणापि न दृश्यम्
सुषुप्तिस्थानम्	,,	रेखारूपेण दृश्यम्
स्वप्नस्थानम्	,,	अत्यन्तमलिनरूपम्
जाग्रत्स्थानम्	,,	स्पष्टरूपम्

इसी विशाखयूप से पद्मनाभ आदि विभव आविर्भूत होते हैं। अन्य कुछ संहिताओं में विशाखयूप स्वयं प्रथम विभव है।[3]

ष्टास्पष्टशङ्खचक्रादिलक्ष्माणि। प्रतिपर्वप्रागादिक्रमेण चतुर्ष्वपि पार्श्वेषु क्रमेण वासुदेवादयो व्यूहा भ्राजन्ते।

ल० त० टी०, ११।१२

१—ल० तं० उ०, पृ० २५

२—वही, पृ० ३७

३—विशाखयूप एवैष विभवान् भावयत्युत।
ते देवाः विभवात्मानः पद्मनाभादयो मताः॥

ल० तं०, ११।१८

लक्ष्मी का स्वरूप

लक्ष्मी देश, काल तथा वस्तु से अपरिच्छिन्न, ज्ञानस्वरूप, गुणशून्य, निरञ्जन, षड्गुणसम्पन्न, अजर और अमर परब्रह्म वासुदेव की परम शक्ति है।[१] संवित् मात्र या ज्ञानमात्र लक्ष्मी का स्वरूप है।[२] सृष्टि की इच्छा करती हुई संविदात्मिका लक्ष्मी स्वेच्छा से ही दो प्रकार के भेदों को प्राप्त होती है—(१) चेत्य, (२) चेतन। चेतन को ही चिच्छक्ति भी कहा गया है। अचेतन के लिए चेत्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[३]

लक्ष्मी सबके लिए प्रत्यक्ष हैं। फिर भी हर एक के लिए भासित क्यों नहीं होतीं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी अन्य विषय को चाहने वाला चित्त, सामने स्थित भाव को नहीं देख पाता है, उसी प्रकार वासना से युक्त जीवों के लिए वह (लक्ष्मी) भासित नहीं होती है।[४] जब भक्ति आदि उपायों के द्वारा वासना पूर्णतः नष्ट हो जाती है, उस समय लक्ष्मी सुदृश्या हो जाती है।[५] संवित् की समुद्रभूत लक्ष्मी के साथ एकभाव को प्राप्त योगी को लक्ष्मी का यही स्वरूप भासित होता है।[६] इसके अतिरिक्त और किसी वस्तु का भान उसे नहीं होता।

१—वही, १४।१,२

२—संविदेव हि मे रूपम्।...
काप्यवस्था न मे सास्ति यस्यां संविन्न वर्तते।

वही, १४।५,४५

३—चेत्यचेतनतां प्राप्ता संविदेव मदात्मिका।
संविदेव हि मे रूपं स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा॥

वही, १४।५

४—...प्रत्यक्षाप्यस्मि विस्मृता।
पुरःस्थितो यथा भावश्चेतसोऽन्याभिलाषिणः।
न भासते तथैवाहं न भासे वासनाजुषाम्॥

वही, १४।२१, २२

५—मद्ध्यानामृतनिष्यन्दक्षालिताशेषवासनाः।
मामेवात्मनि पश्यन्ति चेत्यौघग्रसनीं चितम्।

वही, १४।१८

६—लक्ष्मी के ध्येय रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—

लक्ष्मी और विष्णु

लक्ष्मीतन्त्र में अनेक स्थलों पर, अनेक बार यह घोषित किया गया है कि लक्ष्मी विष्णु की शक्ति हैं ।[1] पाञ्चरात्र आगमों की यही मान्यता है । अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार विष्णु की सामर्थ्यरूप होने के कारण ही लक्ष्मी को विष्णु-शक्ति कहा जाता है ।[2] इस प्रकार लक्ष्मी शक्ति है तथा विष्णु शक्तिमान् । शैव आगमों में शक्ति और शक्तिमत् में अभेद सम्बन्ध माना गया है ।[3] और पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार लक्ष्मी और विष्णु में, अथवा शक्ति और

... .. मां ध्यायेत सुसमाहितः ॥
अनौपम्यामनिर्देश्यामविकल्पां निरञ्जनाम् ।
सर्वत्र सुलभां लक्ष्मीं सर्वप्रत्ययतां गताम् ॥
साकारामथवा योगी वराभयकरां पराम् ।
पद्मगर्भोपमां पद्मां पद्महस्तां सुलक्षणाम् ॥
यद् वा नारायणाङ्कस्थां सामरस्यमुपागताम् ।
चिदानन्दमयीं देवीं .. .. ॥

वही, २८।४१–४४

१—तस्य या परमा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ।
अहं नारायणी शक्तिः सिसृक्षालक्षणा तदा ।
अहं नारायणी शक्तिः सुषुप्सालक्षणा हि सा ।
अहं नारायणी शक्तिः विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
तस्याहं परमा शक्तिरहंतानन्दचिन्मयी ।
भिन्नाभिन्ना च वर्तेऽहं ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ।

वही, २।११, २२, २३; १६।२१;
१५।९, १०

२—विष्णोः सामर्थ्यरूपत्वाद्विष्णुशक्तिः प्रगीयते ।

अहिर्बु०, ३।११

३—शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।

शिवदृष्टि, ३।३

शक्तिमत् में[1] अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है।[2] लक्ष्मीतन्त्र में तथा अन्य पाञ्चरात्र संहिताओं में ब्रह्माद्वैत, अद्वैत आदि शब्दों का प्रायः प्रयोग किया गया है।[3] परन्तु इस अद्वैत और मायावादियों के (निर्विशेष) अद्वैत में पर्याप्त अन्तर है। अपनी अपृथक्सिद्ध शक्ति लक्ष्मी से विशिष्ट होने के कारण लक्ष्मीविशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्त्व है। लक्ष्मीतन्त्र में प्रयुक्त ब्रह्माद्वैत शब्द का यही अभिप्राय है।[4] लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि वस्तुतः लक्ष्मी और विष्णु एक तत्त्व होते हुए भी दो रूपों में व्यवस्थित हैं।

तावावां तत्त्वमेकं तु द्विधाभूतौ व्यवस्थितौ।[5]

इस प्रकार यदि लक्ष्मी शक्ति है तो नारायण शक्तिमान्, यदि लक्ष्मी अहन्ता है यो नारायण अहम्, यदि लक्ष्मी भाव है तो नारायण भवत् और यदि लक्ष्मी धर्म है तो नारायण धर्मी। यह लक्ष्मीतन्त्र की स्थिति है। किसी भी देश अथवा काल में लक्ष्मी और विष्णु में विश्लेष सम्भव नहीं है। लक्ष्मी के बिना विष्णु की, तथा विष्णु के बिना लक्ष्मी की स्थिति नहीं हो सकती।[6] इन दोनों में जो सम्बन्ध है उसे कहीं अपृथक् सिद्ध, कहीं अविनाभाव, तथा कहीं समन्वय कहा गया है।[7] जिस प्रकार अहमर्थ अहन्ता से आक्रान्त

१—शक्तिमच्छक्तिभावेन तद् द्विधा व्यवतिष्ठते।
शक्तिमत् तत् परं ब्रह्म नारायणमहं भवत्॥
शक्तिर्नारायणी साहम् — — ।

ल० तं०, ८।८,९

२—अपृथग्भूतशक्तित्वाद् ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते। तथा
अपृथग्भूतशक्तित्वादद्वैतं ब्रह्म निष्कलम्।

वही, २।११, ६।२४

३—वही, २।११, ६।२४

४—ब्रह्माद्वैतमिति। स्वापृथक्सिद्धशक्त्यहन्ता विशिष्टत्वात् तद्विशिष्टं ब्रह्मैकमेव तत्त्वमित्यर्थः। ल० तं० टी०, २।११

५—ल० तं०, १५।१०

६—न विना देवदेवेन स्थितिर्मम हि विद्यते।
मया विना न देवस्य स्थितिर्विष्णोः हि विद्यते॥

वही, ११।३८

७—अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात्।

वही, २।१७

होकर ही प्रसिद्ध होता है, तथा जिस प्रकार अहन्ता अहमर्थ से समुत्थित रूप में कही गयी है, उसी प्रकार एक दूसरे के साथ अविनाभाव होने के कारण लक्ष्मी और विष्णु में तादात्म्य सम्बन्ध है। अहन्ता के बिना निर्विशेष अहमर्थ की सिद्धि नहीं होती, तथा अहमर्थ के बिना आधार रहित अहन्ता की सिद्धि नहीं होती है।[१]

लक्ष्मीतन्त्र में लक्ष्मी ही सृष्टि आदि की कर्मी कही गयी हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि विष्णु का सृष्टि आदि कृत्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः दोनों में अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध होने के कारण धर्मभूत लक्ष्मी का सर्गादि कर्तृत्व धर्मिभूत विष्णु में पर्यवसित हो जाता है।[२] लक्ष्मीतन्त्र का कथन हैं कि लक्ष्मी विष्णु का व्यापार हैं। अतः लक्ष्मी द्वारा किया गया कार्य विष्णु द्वारा किया गया कहा जाता है।[३]

डॉ० श्रैडर का कहना है कि यद्यपि पाञ्चरात्र आगमों में प्रायः लक्ष्मी और विष्णु में एकत्व की घोषणा की गयी है, तथापि दोनों को वस्तुतः भिन्न माना गया है।[४] इसकी सिद्धि में उन्होंने कुछ हेतु भी दिये है। वह अहिर्बुध्न्यसंहिता की इस पंक्ति की ओर सङ्केत करते हैं—

व्यापकावसति संश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ।[५]

१—अहन्तया समाक्रान्तो ह्यहमर्थः प्रसिद्ध्यति।
अहमर्थसमुत्था च साहन्ता परिकीर्तिता॥
अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात्।
तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य चोभयोः।
अहन्तया विनाहं हि निरूपाख्यो न सिध्यति॥
अहमर्थं विनाहन्ता निराधारा न सिध्यति।

वही, २।१६–१९

२—ल० तं० टी०, पृ० १४

३—ल० तं०, ११।६,७

४—Here it will first be necessary to remark that in spite of frequent assurances as to the real identity of Lakṣmī and Viṣṇu, the two are actually regarded as distinct.

I. Pāñ., p. 30

५—अहिर्बु०, ४।७८

तात्पर्य यह है कि प्रतिसञ्चर या प्रलय की अवस्था में व्यापक लक्ष्मी और विष्णु इस प्रकार स्थित हो जाते हैं जैसे कि वे दोनों एक ही तत्त्व हों। यहां प्रयुक्त 'एकं तत्त्वमिव' अर्थात् एक तत्त्व की भांति, का स्पष्ट अर्थ यह ज्ञात होता है कि वस्तुतः वे दोनों एक तत्त्व नहीं हैं, अन्यथा इव शब्द के प्रयोग की क्या सार्थकता होगी।[१]

डॉ० श्रेडर की इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि उनके द्वारा उठायी गयी आपत्ति पाञ्चरात्र आगमों के लिए इष्ट होगी। लक्ष्मी और विष्णु में तादात्म्य सम्बन्ध मानने का यह अर्थ कभी नहीं है कि वे दोनों पूर्णरूपेण एक हैं। पाञ्चरात्र आगम वस्तुतः भेदवाद को ही मानते हैं, और अद्वैत इस अर्थ में मानते हैं कि सब कुछ चेतन और अचेतन विष्णु में ही क्रोडीभूत है।[२] यही कारण है कि पाञ्चरात्र आगमों को विशिष्टाद्वैत दर्शन का स्रोत कहा जाता है। इस प्रकार शक्तिभूत लक्ष्मी तथा शक्तिमान् विष्णु में उसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध है, जिस प्रकार सूर्य का उसकी प्रभा से, अहन्ता का अहम् से और भवत् का भाव से है।

लक्ष्मी के नाम

लक्ष्मीतन्त्र के पचासवें अध्याय में श्रीसूक्त का वैभव प्रतिपादित किया गया है। इस प्रसङ्ग में श्रीसूक्त में कहे गये लक्ष्मी के नामों का उल्लेख तथा विस्तार में उनकी निरुक्ति की गयी है। श्रीसूक्त में लक्ष्मी के तिरपन (५३) नाम हैं।[३] इन सभी नामों के आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः पद लगा कर

१—इस प्रसङ्ग में यह श्लोक भी द्रष्टव्य है—
देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
भवद्भावस्वरूपेण तत्त्वमेकमिवोदितौ ॥
अहिर्बु०, ३।२५

२—क्रोडीकृत्याखिलं सर्वं ब्रह्मणि व्यवतिष्ठते।
तथा
क्रोडीकृतमिदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकम्।
ल०तं०, २।२१, ४

३—सूक्तेऽस्मिन् मम नामानि पञ्चाशत् त्रीणि च।
वही, ५०।३६

विभिन्न मन्त्र बनाये जाते हैं। इन मन्त्रों का माहात्म्य तथा उनके फलों का वर्णन भी साथ ही साथ किया गया है। किन्तु लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि उन मन्त्रों का उतना ही माहात्म्य नहीं है,सभी मन्त्र मोक्षपर्यन्त सब प्रकार के फलों को प्रदान करने वाले हैं।[1]

नामनिर्वचन

न केवल श्रीसूक्त के इन तिरपन नामों का उल्लेख लक्ष्मीतन्त्र में है, अपितु इन सभी नामों का निर्वचन भी है, जिससे लक्ष्मी के स्वरूप और स्वभाव पर

लक्ष्मी के तिरपन नाम निम्नलिखित हैं :—

१—हिरण्यवर्णा	१९—ज्वलन्ती	३७—नित्यपुष्टा
२—हरिणी	२०—तृप्ता	३८—करीषिणी
३—सुवर्णस्रग्	२१—तर्पयन्ती	३९—ईश्वरी
४—रजतस्रग्	२२—पद्मे स्थिता	४०—मनसः कामः
५—चन्द्रा	२३—पद्मवर्णा	४१—वाच आकूतिः
६—हिरण्यमयी	२४—चन्द्रा	४२—सत्यम्
७—लक्ष्मी	२५—प्रभासा	४३—पशूनां रूपम्
८—अनपगामिनी	२६—यशसा	४४—अन्नस्य यशः
९—अश्वपूर्वा	२७—ज्वलन्ती	४५—माता
१०—रथमध्या	२८—देवजुष्टा	४६—पद्ममालिनी
११—हस्तिनादप्रबोधिनी	२९—उदारा	४७—पुष्करिणी
१२—श्री	३०—ता	४८—यष्टि
१३—मा	३१—पद्मनेमी	४९—पिङ्गला
१४—देवी	३२—आदित्यवर्णा	५०—तुष्टि
१५—का	३३—कीर्ति	५१—सुबर्णा
१६—सोस्मिता	३४—ऋद्धि	५२—हेममालिनी
१७—हिरण्यप्राकारा	३५—गन्धद्वारा	५३—सूर्या
१८—आर्द्रा	३६—दुराधर्षा	ल०तं०, ५०।३६–२०४

१—यद्यप्येषां मया प्रोक्ता व्यवस्था फलगोचरा।
न तावदेव माहात्म्यमेषां चिन्त्यं विपश्चिता।
आमोक्षान्निर्विचारेण सर्वा सर्वफलप्रदाः॥

वही, ५०।२०५, २०६

प्रकाश पड़ता है। लक्ष्मी और श्री बहुत प्रसिद्ध नाम हैं तथा इनका निर्वचन भी अधिक विस्तार से लक्ष्मीतन्त्र में किया गया है। उदाहरण के लिए इन्हीं दो नामों के निर्वचन यहां प्रस्तुत हैं।

लक्ष्मी

सर्वप्रथम लक्ष् धातु से लक्ष्मी का निर्वचन किया गया है। लक्ष् धातु का अर्थ है – दर्शन और अङ्कन। इसके आधार पर लक्ष्मी नाम का अर्थ करते हुए कहा गया है कि लक्ष्मी सब प्राणियों की साक्षात्कर्त्री हैं, शुभ और अशुभ को देखती हैं,[१] ईश्वर की सर्वसम्पद् हैं, तथा सर्वप्रमिति (यथार्थज्ञान) की लक्ष्य (प्रमेय) हैं।[२] लक्ष् धातु के आधार पर यह अर्थ किया है। व्याकरण में भी लक्ष्मी शब्द की व्युत्पत्ति इसी धातु से मानी गयी है। निम्नलिखित उणादिसूत्र से इसकी सिद्धि होती है —

लक्षेर्मुट् च[३]

अर्थात् लक्ष् (दर्शनाङ्कनयोः) धातु (चुरादिण्यन्त) को उक्त औणादिक सूत्र से ई प्रत्यय, मुट् का आगम तथा णिलोप प्राप्त होता है —

लक्ष् + णिच् + मुट् + ई = लक्ष् + म् + ई – लक्ष्मी

इस प्रकार व्याकरण के अनुसार लक्ष् धातु से ही लक्ष्मी शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका निम्नलिखित अर्थ कहा गया है —

लक्षयति पश्यति सुकृतिनं लक्ष्मीः, अङ्कयति हरेर्गात्रं वा।[४]

इसके पश्चात् 'ला' तथा 'क्षिप्' धातुओं के द्वारा लक्ष्मी की व्युत्पत्ति की गयी है। क्षिप् धातु तो प्रेरणा के अर्थ में सर्वस्वीकृत है ही परन्तु 'ला' धातु दान और आदान दोनों अर्थों में स्वीकार की गई है। मुख्य रूप से 'ला' आदान के अर्थ में ही प्रसिद्ध है, किन्तु आचार्य चन्द्र इसे दानार्थक मानते हैं। यथा—

१—लक्ष दर्शनाङ्कनयोः

माधवीया धातुवृत्ति, चुरादिगण, ५

२—साक्षिणी सर्वभूतानां लक्षयामि शुभाशुभम्।
लक्ष्मीश्वास्मि हरेर्नित्यं लक्ष्यं सर्वमितेरहम्॥

ल०तं०, ५०।६२

३—उणादिसूत्राणि, ३।१६०

४—प्रक्रियासर्वस्व, ६।१६०

रा दाने। ला आदाने। द्वावपि दाने इति चन्द्रः।[१]

राति लाति द्वावपि दानार्थौ इति चान्द्राः।[२]

इस प्रकार 'ला' तथा 'क्षिप्' धातुओं की सहायता से लक्ष्मी शब्द का अर्थ करते हुए कहा गया है कि लक्ष्मी दान करने वाली, मन, वाणी और शरीरों को प्रेरित करने वाली, तथा ज्ञान स्वरूप हैं।[३]

'क्षिप् प्रेरणे'[४] धातु से ही लक्ष्मी शब्द का दूसरा निर्वचन करते हुए कहा गया है कि लक्ष्मी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में प्रकृति को प्रेरित करने वाली हैं। लक्ष्मी लक्षण के योग्य, अर्थात् लक्ष्य पदार्थों की कलाकाष्ठा आदि अवस्था-मयी हैं।[५] एक दूसरा निर्वचन करते हुए कहा गया है कि लक्ष्मी, अव्यक्त (प्रकृति), व्यक्त (महदादि), सत्त्व (पुरुष) में स्थित होकर प्रेरित करती हैं, स्वयं को लक्षित करती हैं और अन्त में लीन हो जाती हैं।[६]

इस निर्वचन में लक्ष्मी शब्द के प्रथम दो वर्ण लकार और क्षकार के आधार पर 'ला' धातु तथा 'क्षिप्' धातु के द्वारा लक्ष्मी शब्द का अर्थ किया गया है। इसके अनन्तर क्षकार तथा 'मी' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर क्षकार तथा 'मी' की ही व्युत्पत्ति के लिए निम्नलिखित धातुओं की सहायता ली गई है :—

'क्षिप्' प्रेरणे[७]

'क्षप्' प्रेरणे[८]

१—वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, पृ. १६६

२—माधवीया धातुवृत्ति, अदादिगण, ६१

३—ददती क्षेपणी चास्मि नित्या त्रिप्रेरणी तथा।
तथा ज्ञानस्वरूपाहं लक्षणीया मितौ मितौ।
ल०तं०, ५०।६३

४—माधवीया धातुवृत्ति, दिवादिगण, १४, तुदादिगण ५

५—लये निवासे निर्माणे नित्या त्रिप्रेरणी तथा।
लक्षणाख्यस्य भावस्य कलाकाष्ठादिरूपिणी॥
ल०तं०, ५०।६४

६—अव्यक्तव्यक्तसत्त्वस्था प्रेरयित्री सदास्म्यहम्।
लक्षं नयामि चात्मानं लामि चान्ते क्षिपामि च॥
वही, ५०।६५

७—माधवीया धातुवृत्ति, तुदादिगण ५, दिवादिगण १४

८—वही, चुरादिगण, ३२६

'क्षिणु हिंसायाम्'[1]
'क्षमूष् सहने'[2]
माङ् माने शब्दे च[3]
'मन् ज्ञाने'[4]
'मा माने'[5]

इन धातुओं की सहायता से लक्ष्मी शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि वह मन, वाणी और कर्म को प्रेरित करती हैं, सज्जनों के पापों को नष्ट करती हैं, क्षमारूपिणी होकर सबको क्षमा करती हैं (सहती हैं), जगत् का निर्माण करती हैं, जगत् को जानती हैं, तथा सब का माप भी करती हैं।[6]

धातुएं अनेकार्थक होती हैं, उस अनेकार्थकता का द्योतक उपसर्ग होता है। जैसे–प्रहार, विहार, संहार आदि। ऐसी दशा में यदि ये उपसर्ग धातु से सम्बद्ध न हों, तो ये अर्थ तिरोहित रहते हैं। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि धातु में यह अर्थ ही नहीं है। अतः निर् उपसर्ग पूर्वक 'माङ् माने शब्दे च' धातु का निर्माण अर्थ में प्रयोग किया जाता है। निर्मिमीते। किन्तु प्रकृत स्थल में निर् उपसर्ग का प्रयोग नहीं किया गया है। 'मिमे मन्ये च मामि च[7]।' फिर भी इसका निर्माण अर्थ हो सकता है।

इस प्रकार लक्ष्मीतन्त्र में नाम की व्युत्पत्ति की गयी है। लक्ष्मी की महिमा को बढ़ाने वाले इन अर्थों को देख कर ही कपिल ने लक्ष्मी की कृपादृष्टि की याचना की थी।[8]

१—वही, तनादिगण, ४
२—वही, भ्वादिगण, २९४
३—वही, जुहोत्यादिगण, ९
४—वही, दिवादिगण, ७१
५—वही, अदादिगण, ६५
६—क्षिपामि क्षपयाम्येका क्षिणोमि दुरितं सताम्।
क्षमे क्षमा हि भूतानां मिमें मन्ये च मामि च॥

ल०तं०, ५०।६६

७—वही, ५०।६६
८—इत्येतान् मयि दृष्ट्वार्थान् परमर्षिरुदारधीः।

श्रीः

व्याकरण के अनुसार 'श्रिञ् सेवायाम्'[१] धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च,[२] वार्तिक के अनुसार अथवा 'क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च'[३] उणादि सूत्र से क्विप् प्रत्यय तथा दीर्घत्व की प्राप्ति होकर श्री शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—'श्रयति हरिं इति श्रीः'।

लक्ष्मीतन्त्र के निर्वचन का ढङ्ग अपना मौलिक है। सर्वप्रथम—

'श्रु श्रवणे'[४]

'शॄ हिंसायाम्'[५]

'शॄ विस्तारे'[६]

इन तीन धातुओं की सहायता से श्री शब्द का निर्वचन किया गया है। इन धातुओं के आधार पर अर्थ करते हुए कहा गया है कि श्री करुण वाणी को सुनती हैं, सज्जनों के पापों को नष्ट करती हैं, गुणों से विश्व को व्याप्त करती हैं तथा शाश्वत शरणस्थल हैं। वह हरि का शरीर हैं, देवता लोग श्रद्धापूर्वक उन्हें चाहते हैं।[७] यहाँ 'श्रद्धया चेप्सिता सुरैः' अर्थात् देवता लोग श्रद्धा पूर्वक मुझे (श्री को ही चाहते हैं,) के विषय में टीकाकार का कथन है कि श्रद्धा शब्द से शकार और रेफ को ग्रहण करके, ईप्सित पद के ईकार को मिला कर श्री शब्द का निर्माण होता है।[८]

लक्ष्मीर्लक्षय मेत्येव कपिलो मुनिरुक्तवान् ॥

वही, ५०।६

१—माधवीया धातुवृत्ति, भ्वादिगण, ६२६

२—वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, ३।२।१७७

३—उणादिसूत्राणि, २।५४

४—वही, भ्वादिगण, ६६२

५—वही, क्र्यादिगण' १८

६—वही,

७—श्रृणोमि करुणां वाचं श्रृणोमि दुरितं सताम्।
श्रृणामि च गुणैर्विश्वं शरणं चास्मि शाश्वतम्।
शरीरं च हरेरस्मि श्रद्धया चेप्सिता सुरैः॥

ल०तं०, ५०।७९,८०

८—श्रद्धयेति। अस्मात् शकारं रेफं चादाय ईप्सितपदादीकारं संयोज्य श्री-

श्री शब्द का दूसरा निर्वचन करते हुए कहा गया है कि शान्ता, पश्या, मध्यमा और वैखरी इस चार प्रकार की वाणी के क्रमशः चार स्थान होते हैं मूलाधार, नाभि, हृदय और कण्ठ। लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि श्री आधारपदस्थ शान्ता हैं, नाभि से उत्पन्न होने वाली रन्ती या पश्यन्ती हैं। हृदय में आकर बुद्धि को प्रेरित करने वाली मध्यमा हैं, तथा मुख में आ कर वर्णों को उत्पन्न करने वाली वैखरी हैं।[1] टीकाकार का कथन है कि शान्ता पद से शकार, रन्ती पद से रेफ तथा प्रेरणी पद से ईकार को ग्रहण करके श्री शब्द बना है।[2]

निर्वचनान्तर करते हुए कहा गया है कि शान्ता, पश्या, मध्या तथा वैखरी के रूप में मूलाधार, नाभि, हृदय, तथा कण्ठ में निवास करने वाली श्री विष्णु की सेवा करती हैं। वह जया आदि शक्तियों द्वारा सेवनीय हैं, शरणागत के पापों को नष्ट करती हैं तथा सभी कामनाओं को प्रदान करती हैं। शक्ति को प्रकाशित करने वाली, कल्याणमयी तथा ईप्सित रति हैं। वेदान्तज्ञ श्री को इसी रूप में जानते हैं।[3]

इसी प्रकार सभी ५३ नामों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ किये गये हैं। इन नामों के आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः लगाकर मन्त्रों की सृष्टि की गयी है। यथा—'ओं लक्ष्म्यै नमः, ओं श्रियै नमः।'

षडध्व

मैत्रायणी उपनिषद् में शब्द ब्रह्म, और परं ब्रह्म ब्रह्म के दो रूपों का उल्लेख

शब्द इति भावः।

ल० तं० टी० ५०।८०

१—शान्ताधारपदस्थास्मि पश्या रन्ती च नाभिजा।
प्रेरणी च धियः मध्या सृष्टिर्वक्त्रे तथार्णसाम्॥

ल०तं०, ५०।८१

२—ल० तं० टी०, ५०।८१

३—चतुःस्थानस्थिता चैवं शान्तापश्यादिभेदिनी।
श्रयामि श्रयणीयास्मि शक्तिभी रेमि रामि च॥
शक्तेरुज्ज्वलिनी चास्मि शन्तमा रतिरीप्सिता।
इति त्रय्यन्ततत्त्वज्ञाः श्रियं मां विदुरञ्जसा॥

वही, ५०, ८२, ८३

किया गया है।[१] तन्त्रों में भी ब्रह्म के यही दो रूप स्वीकार किये गये हैं। और लक्ष्मी-तन्त्र को भी यही दो ब्रह्म मान्य हैं।[२] पर ब्रह्म से उसकी शक्ति (लक्ष्मी) शब्द ब्रह्म के रूप में उदित होती है।[३] लक्ष्मी ही जगत् के रूप में लक्षित होती है, अथवा जगत् लक्ष्मी का ही रूप है।[४] लक्ष्मीतन्त्र में इसे जगत्प्रकृति-भाव कहा गया है।[५] जगत् के रूप में होने के लिए लक्ष्मी शब्द ब्रह्म के रूप को छह रूपों में धारण करती हैं। इसी को षडध्व कहा गया हैं। ये षडध्व निम्नलिखित हैं[6] :—

(१) वर्णाध्व
(२) कलाध्व
(३) तत्त्वाध्व
(३) मन्त्राध्व
(५) पदाध्व, तथा
(६) भुवनाध्व

१—द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माभिगच्छेत्॥

मै० उ०, २२।६

२—शब्दब्रह्मणि निष्णातः शब्दातीतं प्रपद्यते।
तथा—
शब्दब्रह्मणि निष्णातः प्रापयेयुः परां श्रियम्।

ल० तं०, ५१।३२, २२।३१

३—शब्दब्रह्मस्वरूपेण स्वशक्त्या स्वयमेव हि।
मुक्तयेऽखिलजीवनामुदेमि परमेश्वरात्॥

वही, २०।७

४—जगत्तया लक्ष्यमाणा सा लक्ष्मीरिति गीयते।

अहिर्बु०, ३।९

५—जगत्प्रकृतिभावो मे यः सा शक्तिरितीर्यते।

ल० तं०, २।२९

६—········प्रभवामि षडध्वना।
वार्ण : कालमयश्चैव तात्त्विको मान्त्रिकस्तथा।
पादिको भौवनश्चैव षडध्वानः प्रकीर्तिताः॥

वही, २२।९-११

शैव आगम, शाक्त आगम, तथा शाम्भव दर्शन में भी षडध्व का प्रतिपादन है। उपर्युक्त षडध्व ही उक्त आगमों को स्वीकार्य हैं। इन आगमों के अनुसार षडध्व दो भागों में विभक्त हैं–(१) शब्द और (२) अर्थ। शब्द के तीन अध्व हैं–(१) वर्ण, (२) पद, तथा (३) मन्त्र। अर्थ के भी तीन अध्व हैं–(१) कला, (२) तत्त्व, तथा (३) भुवन।[1] लक्ष्मीतन्त्र में शब्द और अर्थ में इनका विभाजन नहीं किया गया है।

अपनी शक्ति तथा अपनी इच्छा से ही लक्ष्मी जीवों पर अनुग्रह करने के लिए इन रूपों को स्वीकार करती हैं। यही षडध्व को स्वीकार करने का प्रयोजन है।[2]

१ वर्णाध्व

शब्दब्रह्म के रूप में लक्ष्मी के प्रथम उन्मेष का नाम वर्णाध्व है।[3] लक्ष्मीतन्त्र में वर्णाध्व को तीन रीतियों में विभाजित किया गया है—(१) आद्या या प्रथमा, (२) मध्यमा तथा (३) चरमा या अन्तिमा। लक्ष्मीतन्त्र में क्रम बदल दिया गया है–मध्यमा, आद्या और चरमा।[4] किन्तु यहां पर इन रीतियों का वर्णन यथा क्रम किया जायगा।

(अ) आद्या रीति

सोलह स्वर, पच्चीस स्पर्श, चार अन्तस्थ, तथा हकार को छोड़ कर तीन ऊष्म, ये ४८ वर्ण उत्पत्ति क्रम में होते हैं। अप्यय क्रम में हकार से लेकर आकार पर्यन्त ४८ वर्ण होते हैं। यदि इन ४८ वर्णों के बारह विभाग किये जाँय, तो प्रति विभाग चार-चार वर्ण आयेंगे। यह चार-चार वर्ण क्रमशः वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध से अधिष्ठित हैं। इस प्रकार वर्णों के

1—*The Garland of Letters, Ch. XXVII (Sadodhvas)* p. 239.

२—ल० तं०, २०१७

३—उन्मेषः प्रथमस्तस्य वर्णाध्वा परिकीर्तितः।

वही, २२।१२

४—वर्णाध्वनस्त्वियं रीतिर्मध्यमा कथिता तव।
आद्यामन्तां च देवेश गदन्त्या मे निशामय॥

वही, १९।४६

रूप में ईश्वर का चातुरात्म्य ही समझा जाता है।[1] उत्पत्ति क्रम में द्वादश भाग के अन्त में हकार होगा, तथा अप्यय क्रम में द्वादशान्त अकार होगा। प्रति विभाग में स्थित वासुदेव आदि को क्रम से विश्राम, उदय, व्याप्ति और व्यक्ति के रूप में जाना जाता है। उत्पत्ति क्रम में अकार को विश्रामस्थानापन्न वासुदेव समझना चाहिए। लयावस्था में सङ्कर्षण आदि तत्त्व यहीं पर विश्राम करते हैं। आकार को उदय स्थानापन्न सङ्कर्षण जानना चाहिए। इकार को व्याप्ति स्थानापन्न प्रद्युम्न तथा ईकार की व्यक्ति स्थानापन्न अनिरुद्ध जानना चाहिए। अप्यय क्रम में हकार को विश्रामस्थानापन्न वासुदेव तथा सकार को उदय स्थानापन्न सङ्कर्षण समझना चाहिए। इस प्रकार आकार पर्यन्त वर्णों में चातुरात्म्यता का चिन्तन करना चाहिए। ये धारणाओं के द्वादश अध्यात्म-लक्षण दो षट्क हैं। सोपानभूत इन धारणाओं का अतिक्रम करके द्वादशान्त से परमतत्त्व (परवासुदेव) में प्रवेश करना चाहिए।[2] यह वर्णाध्व की प्रथमा अथवा आद्या रीति है। वर्णाध्व की इस रीति के ज्ञानमात्र से साधक लक्ष्मी (शब्द ब्रह्म) की सरूपता को प्राप्त कर लेता है।[3]

(आ) मध्यमा रीति

लक्ष्मी सिसृक्षावस्था में अहन्ता नाम से विख्यात होती हैं तथा सृष्टि की अवस्था में परा शक्ति नाम से। परा शक्ति का उन्मेष होने पर पञ्चदश स्वरों का आविर्भाव होता है। इन स्वरों को पञ्चदश दशाएं कहा गया है। विसर्ग इन दशाओं की प्रकृति है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं—ये पञ्चदश स्वर या दशाएं हैं। अकार अथवा प्रथम स्वर अनुत्तर, द्वितीय स्वर आनन्द रूप, तृतीय स्वर इच्छा रूप, चतुर्थ स्वर ईशान रूप, पञ्चम स्वर उन्मेष रूप तथा षष्ठ स्वर ऊर्जता रूप है। मध्यम चतुष्क अर्थात् ऋ, ॠ, लृ, ॡ इच्छा आदि के ही विकार हैं। अनुत्तर और इच्छा के संयोग से एकार उत्पन्न होता है। इस एकार से आनन्द का संयोग होने पर उकार

१—वही, २०।१०

२—वही, २०।११-२३

३—शृणु वर्णाध्वनो रीतिमाद्यां त्रिदशपुङ्गव।
प्राप्नोति यत्परिज्ञानात् साधको मत्सरूपताम्॥

वही, २०।३

उत्पन्न होता है जिसे जगद्योनि कहा जाता है। अनुत्तर और उन्मेष के योग से ओकार की उत्पत्ति होती है। इसी ओकार का अनुत्तर से योग होने पर औकार उत्पन्न होता है जिसे सद्योजात कहा जाता है।[1] अनुस्वार को मिलाकर पञ्चदश स्वर या दशाएं होती हैं। परा शक्ति से आविर्भूत होने वाले पञ्चदश स्वरों या दशाओं को निम्नलिखित क्रम या रूप में रखा जा सकता है :—

१–अनुत्तर	अ
२–आनन्द	आ
३–इच्छा	इ
४–ईशान	ई
५–उन्मेष	उ
६–ऊर्जता	ऊ
७–१०–इच्छा आदि की विकृतियां	ऋ, ॠ, ऌ, ॡ
११–अनुत्तर + इच्छा	ए
१२–आनन्द + एकार = जगद्योनि	ऐ
१३–अनुत्तर + उन्मेष	ओ
१४–अनुत्तर + ओकार = सद्योजात	औ
१५–अनुस्वार	अं

इस प्रकार सिसृक्षा हेतु इन पञ्चदश अङ्गों से पूर्ण होकर सृष्टि रूप परा शक्ति पञ्चविंशति तत्त्वों को उत्पन्न करती है। मकार से लेकर ककार पर्यन्त अक्षरों से पुरुषादि पृथिव्यन्त २५ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है।[2] य, व, र, ल इन चार वर्णों को धारणाचतुष्टय कहते हैं। किञ्चित्क्रियारूपा कला वातसंज्ञित यकार है। किञ्चिज्ज्ञानात्मिका विद्या पावकसंज्ञित रेफ है। स्तम्भमोहात्मिका माया पृथिवी नामक लकार है तथा रञ्जनात्मिका राग-शक्ति वरुण नामक वकार है।[3] यह चार धारणायें कही गयी हैं। ये ही पुरुष को धारण करती हैं।[4] स्पष्टता के लिए इन चारों वर्णों, धारणाओं, तथा संज्ञाओं को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं :—

१—वही, १९।१-७
२—वही, १९।१०, ११
३—वही, १९।१३-१५
४—वही, १९।१३

य	किञ्चित्क्रियारूपा कला	वात
र	किञ्चिज्ज्ञानात्मिका विद्या	पावक
ल	स्तम्भमोहात्मिका माया	पृथिवी
व	रञ्जनात्मिका रागशक्ति	वरुण

श, ष, स, ह, क्ष को विशुद्ध ब्रह्मपञ्चक कहा गया है। शकार अनिरुद्ध, षकार प्रद्युम्न, सकार सङ्कर्षण तथा हकार वासुदेव है। क्षकार महाक्षोभ है। सृष्टि के आदि में सृष्टि करते समय जो पराशक्ति का क्षुभित रूप होता है, वही क्षकारात्मक सत्य नाम वाली क्षोधिका महाशक्ति है। इस महाशक्ति की पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच दिव्य शक्तियाँ हैं। बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज नाम वाली ज्ञानात्मिका पराशक्ति की ये शादि शक्तियाँ हैं। इस प्रकार ये पांच वर्ण ब्रह्मपञ्चक हैं—

श	अनिरुद्ध
ष	प्रद्युम्न
स	सङ्कर्षण
ह	वासुदेव
क्ष	सत्य नामक महाक्षोभ

इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णमाला से पन्द्रह दशाएं, पच्चीस तत्त्व, धारणा-चतुष्क, तथा ब्रह्मपञ्चक की कल्पना यहां की गयी हैं।[१] विसर्ग पञ्चदश अङ्गों या दशाओं से सम्पन्न है। वह विसर्ग सोममयी शक्ति है, अथवा वह चन्द्रमा है। अङ्गों में अन्तिम विन्दु या अनुस्वार सूर्य है।[२] चतुर्दश स्वर इन सूर्य और चन्द्र दोनों देवताओं की सात सात किरणें हैं। इनमें प्रथम सात स्वर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ये सात भोक्ता या संहारक नाम वाली सूर्यरूपा शक्ति की शोषक किरणें हैं।[३] दूसरे जो सात स्वर हैं अर्थात् आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, औ, ये भोग्य नाम वाली सोम रूपा शक्ति की शीतल, आह्लाद-कारिणी, तथा पोषक किरणें हैं।[४] अकार से लेकर उकार पर्यन्त युग्म में स्थित सात पूर्व वर्णों की सूर्यकिरणात्मकता तथा उनके अनेक गुणों का वर्णन किया

१—वही, १९।१-१९

२—सूर्याचन्द्रमसावेतौ विन्दुसर्गौ पुरन्दर।
वही, १९।२२

३—वही, १९।२४

४—वही, १९।२५

गया है। इसी प्रकार युग्म में स्थित उत्तर सात वर्णों की चन्द्रकिरणात्मकता तथा अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।[1] अग्नीषोमात्मक इन किरणों से युक्त हो कर अन्त्य स्वर विसर्ग के रूप में शक्ति की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्त होती हुई उस से शक्ति और उन्मेष विशिष्ट क्ष, ह, स, ष, श रूप ब्रह्मपञ्चक उद्गत होता है। इसके पश्चात् व, ल, र, य से पूर्ववर्णित चार धारणाओं की उत्पत्ति होती है। इनको तुर्य, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत नामक चार अवस्थाएं कहा गया है। ब्रह्मदशा तथा भकारादि ककारान्त, प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त तत्त्वों के मध्य में जाग्रत आदि विभेद युक्त पुरुष को ये धारणाएं ही धारण करती हैं। पुरुष मकार वाच्य है। लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि यदि पुरुष को धारणाएं ब्राह्मी और प्राकृती दशा के मध्य में धारण न करें तो वह ब्राह्मी अथवा प्राकृती दशा को प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार संसृति ही असम्भव हो जायगी। इस कारण चार धारणाएं आविर्भूत हुईं।[2] इस प्रकार चार दशाओं के मध्य में स्थित भोग और अपवर्ग के योग्य मकार अर्थात् भोक्तृसंज्ञक पुरुष उत्पन्न हुआ।[3] पुरुष के भोगों की उत्पत्ति के लिए अचेतन, सूक्ष्म, गुणसाम्य, अव्यक्त आदि विशेषणों से युक्त योनि और स्वभाव भकार अथवा प्रकृति उत्पन्न हुई।[4] भोग करते हुए पुरुष के भोग्य और भोग आदि की सिद्धि के लिए बकार से लेकर ककार पर्यन्त वर्णसमूह से तेइस तत्त्व व्यक्त हुए। ब, फ, प से बुद्धि, अहङ्कार और मन की, नकार से लेकर तकार पर्यन्त वर्णों से श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों की, णकार से लेकर टकार पर्यन्त

१—आलोकस्तीक्ष्णता व्याप्तिर्ग्रहणं क्षेपणेरणे।
पाक इत्युदिता पूर्वे किरणाः सूर्यसम्भवा॥
द्रवता शीतभावश्च शान्तिः कान्तिः प्रसन्नता।
रसतानन्द इत्येते सप्त चान्द्रमसाः गुणाः॥

वही, १९।२६, २७

२—यदि न ध्रियते ताभिर्दशामन्यतरां व्रजेत।
ब्राह्मीं वा प्राकृतीं वापि नैव स्यात् संसृतिस्ततः॥
इत्थं धारणाः मत्तः प्रादुर्भूताः ममाज्ञया॥

वही, १९।३७, ३८

३—वही, १९।३८, ३९

४—वही, १९।४०

वर्णों से वागादि पांच कर्मेन्द्रियों की, ञकार से लेकर चकार पर्यन्त वर्णों से शब्द आदि पञ्च तन्मात्राओं की तथा ङकार से लेकर ककार पर्यन्त वर्णों से आकाश आदि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[१] इन पच्चीस तत्त्वों को निम्न रूप में रखा जा सकता है :—

म — पुरुष	भ — प्रकृति	ब — बुद्धि	फ — अहङ्कार	प — मन
न — श्रोत्र	ध — त्वक्	द — चक्षु	थ — रसना	त — घ्राण
ण — वाक्	ढ — पाणि	ड — पाद	ठ — पायु	ट — उपस्थ
ञ — शब्द	झ — स्पर्श	ज — रूप	छ — रस	च — गन्ध
ङ — वियत्	घ — वायु	ग — तेज	ख — जल	क — पृथिवी

यही वर्णाध्व की मध्या रीति है।

(इ) चरमा रीति

प्रयत्न और स्थान से भेद को प्राप्त होने वाली वैखरी ही वर्णाध्व की चरमा रीति है।[२] व्यक्त वाणी के उच्चारण पर यह वैखरी निश्चय ही स्फुटता को प्राप्त होती है, जो कि देहबद्ध जीवों को उनके अनुरूप सन्मार्ग की दर्शिका भी है।

वासुदेव आदि चार व्यूह, तथा केशव आदि बारह व्यूहान्तर सोलह

१—वही, १९।४१-४४

२—वैखरी चरमा रीतिः प्रयत्नस्थानभेदिनी

वही, २०।३०

स्वरों के अधिष्ठातृ देवता हैं। लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया क्रमशः चार व्यूहों की शक्तियाँ हैं। श्री, वागीश्वरी, कान्ति, क्रिया, शान्ति, विभूति, इच्छा, प्रीति, रति, माया, धी और महिमा क्रमशः केशव आदि द्वादश व्यूहान्तरों की शक्तियाँ हैं।[1] स्वरों उनके अधिष्ठातृ देवों तथा उनकी शक्तियों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:—

१—अ	वासुदेव	लक्ष्मी
२—आ	सङ्कर्षण	कीर्ति
३—इ	प्रद्युम्न	जया
४—ई	अनिरुद्ध	माया
५—उ	केशव	श्री
६—ऊ	नारायण	वागीश्वरी
७—ऋ	माधव	शान्ति
८—ॠ	गोविन्द	क्रिया
९—लृ	विष्णु	शान्ति
१०—लॄ	मधुसूदन	विभूति
११—ए	त्रिविक्रम	इच्छा
१२—ऐ	वामन	प्रीति
१३—ओ	श्रीधर	रति
१४—औ	हृषीकेश	माया
१५—अं	पद्मनाभ	धी
१६—अः	दामोदर	महिमा

वासुदेव आदि व्यूह तथा केशव आदि व्यूहान्तरों की जिन शक्तियों का उल्लेख किया गया है, वे ही स्वरों की शक्तियाँ हैं।[2] ककारादि ३४ वर्णों के अधिष्ठातृ देवता, पद्मनाभ से लेकर कृष्ण पर्यन्त विभव हैं। विभवों में अन्तिम चार श्रीराम, वेदवित्, कल्किन् तथा पातालशयन क्रमशः अनुस्वार, यम, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय के अधिष्ठातृ देवता हैं। विभवों की धी आदि शक्तियाँ ही कादि वर्णों की शक्तियां हैं।[3] इसके पश्चात् मातृका की महिमा

१—वही, २०।३३–३५

२—वही, २०।६६

३—वही, २०।५१, ५२

का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार भूखी बालिका माता की शरण में जाती है, उसी प्रकार सभी देवतागण मातृका देवी की शरण ग्रहण करते हैं। यह मातृका सभी मन्त्रों, विद्याओं, तत्त्वों, तात्त्विकों और ज्ञानों की कारण है।[1] यह चरमा रीति है।

इस प्रकार यह वर्णाध्व है।

२ कलाध्व

शब्दब्रह्म का द्वितीय उन्मेष कलाध्व से होता है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज ये ईश्वर के छह गुण ही कला शब्द से अभिहित होते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान आदि षड्गुणों के रूप में शब्दब्रह्म परिणमित होता है।[2] इसी को कलाध्व कहते हैं।

३ तत्त्वाध्व

शब्दब्रह्म का तृतीय विवर्त (परिणाम) तत्त्व-मार्ग से होता है। तत्त्वाध्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शब्दब्रह्म ईश्वर के षाड्गुण्य के तीन युगल वाले तत्त्व मार्ग से परिणमित होता है। तत्त्व का अर्थ है सङ्कर्षण आदि देवता।[3] वासुदेव आदि व्यूह, पद्मनाभ आदि विभव तथा अन्य जो भी भगवन्मय व्यूहान्तर या विभवान्तर हैं सभी तत्त्वाध्व के ही अन्तर्गत आते हैं।[4]

१—यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वे सुराः देवीं मातृकां पर्युपासते॥
इयं योनिर्हि मन्त्राणां विद्यानां जन्मभूरियम्।
तत्त्वानां तात्त्विकानाञ्च ज्ञानानां प्रसवस्थली॥

वही, २०।५१, ५२

२—शब्दब्रह्ममयी भूत्वा विवर्तेऽहं कलाध्वना।
कलाः ज्ञानादयः प्रोक्ताः षड्गुणाः पारमेश्वराः॥

ल० तं०, २१।६,७

३—तासां त्रिकद्वियोगेन विवर्ते तत्त्ववर्त्मना।
सङ्कर्षणादयो देवास्तत्त्वानि सुरसत्तम॥

वही, २१।७,८

४—व्यूहाश्च विभवाश्चैव यश्चान्यद्भगवन्मयम्।

४ मन्त्राध्व

पहले कलाध्व और तत्त्वाध्व को लेकर शब्दब्रह्म चिन्मय रूप मन्त्र मार्ग में परिणमित होता है।[१] मन्त्राध्व कभी बीज रूप से, कभी पिण्ड रूप से, कभी संज्ञा रूप से तथा कभी पद रूप से प्रवृत होता है।[२] यह बीज, पिण्ड, संज्ञा तथा पद क्रम से तुर्य, सुषुप्ति, स्वप्न, तथा जाग्रत इन चार पदों से युक्त होते हैं।[३] इनमें प्रथम बीज एक स्वर, दो स्वर, स्वर और व्यञ्जन से युक्त अथवा बहुस्वर वाला होता है। मध्य में स्थित व्यञ्जनों को पिण्ड कहते हैं। यह व्यञ्जन कभी-कभी स्वर से भी युक्त होते हैं। नमः और प्रणव से युक्त अभिधा को संज्ञा कहते हैं।[४] क्रिया, कारक के संयोग से स्तुति और सम्बोध रूप तथा नाना प्रकार की संज्ञाओं से युक्त मन्त्रों को पद कहते हैं। बीजमन्त्र, पिण्डमन्त्र, संज्ञामन्त्र, तथा पदमन्त्र यही मन्त्रों के चार प्रकार हैं।[५] गुरु से मन्त्र का प्रसाद पाकर जीव सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर, भुवनाध्व से पार उतरते हुए, तथा पदाध्व से विरक्त होते हुए क्रमशः तत्त्व, कला और वर्ण मार्गों में प्रविष्ट होता हुआ, अन्ततः परम तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है।[३] मन्त्राध्व का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि भवसागर में मग्न जीवों का उत्तारण करने के लिए, भव में स्थित लोगों के भोग के लिए, वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, आराधना की सिद्धि के लिए तथा मन के आलम्बन के लिए यह मन्त्राध्व होता है।[७]

तत्त्वाध्वनो विवृतिः सा कीर्तिता परमात्मनः।

वही, २२।१६

१—ल० तं०, २२।१७

२—चिल्लक्षणः षड्गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः।
क्वचिद् बीजं, क्वचित् पिण्डं, क्वचित् संज्ञा, क्वचित् पदम्॥

वही, १९।१०

३—वही, २१।११

४—वही, २१।११-१३

५—वही, २१।१३,१४

६—वही, २१।२३–२८

७—वही, २२।१८, १९

५ पदाध्व

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य अवस्था में विद्यमान् साधक के ध्यान के लिए उन पदों के अधिष्ठातृ देवताओं के द्वारा स्वीकृत रूपों को पदाध्व कहते हैं।[१] इनमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अधिक प्रसिद्ध हैं। जब बाह्येन्द्रियों का विभव तम से अभिभूत हो जाता है, उस समय संस्कार से मुक्त अन्तःकरण की वृत्ति को स्वप्न कहते हैं। संस्कार का अभाव होने पर उसी वृत्ति को सुषुप्ति कहते हैं[२] और तमोगुण से अनभिभूत, सत्त्व गुण में स्थित विद्वान् के बाह्य अन्तःकरण की वृत्ति का उपरम हो जाने पर शुद्ध सत्त्व की प्रसादसन्तति को तुर्य कहते हैं।[३]

६ भुवनाध्व

माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त भुवन पद्धति को भुवनाध्व कहते हैं।[४] यह भुवनाध्व चौदह विभागों से युक्त है।[५] सम्भवतः ये चौदह विभाग पुराण प्रसिद्ध चतुर्दश भुवन ही हैं।[६] भुवनाध्व को अशुद्ध तथा मलपङ्किल कहा गया है।[७]

१—वही, २२।२२, २३

२—वही, २२।२३, २४

३—तमसाऽनभिभूतस्य सत्त्वस्थस्य विपश्चितः।
बाह्यान्तःकरणस्थाया वृत्तेरुपरमे सति।
शुद्धसत्त्वप्रसादस्य सन्ततिस्तुर्यसंज्ञिता॥
वही, २२।२५, २६

४—मायादिक्षितिपर्यन्ता योक्ता भुवनपद्धतिः।
भुवनाध्वा स विज्ञेयो ह्यशुद्धो मलपङ्किलः।
वही, २२।२७-२८

५—चतुर्दशविभागस्थे प्राकृते भुवनाध्वनि।
वही, २१।२५

६—द्रष्टव्य—'अत्र चतुर्दशभुवनानि पुराणप्रसिद्धान्येव प्रतीयन्ते।'
व्रजवल्लभद्विवेदः, वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः, सारस्वती सुषमा, सप्तदशे वर्षे, १-२, ३-४ अङ्काः, पृ० १८५

७—ल० तं०, २२।२८

त्याज्य के त्याग तथा प्राप्तव्य की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु को षडध्वशोधन करना चाहिए। आचार्य के कृपाकटाक्ष से युक्त पुरुष को मन्त्र भुवनाध्व से उतारते हुए, पद-पद में पदाध्व से वैराग्य उत्पन्न कराते हुए, क्रम से तत्त्व, कला और वर्ण पदों को प्राप्त कराते हैं। तदनन्तर वह पुरुष निखिल बन्धनों से रहित होकर शाश्वत ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार षडध्व से मुक्त होकर मुमुक्षु पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है। शब्दब्रह्म ही षडध्व के रूप में परिणमित होता है। अतः मुमुक्षु शब्दब्रह्म से अतीत को अर्थात् पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है।[2]

षट्कोश

षडध्व की ही भांति षट्कोश लक्ष्मी के छह रूप हैं। कोश का अर्थ है कुलाय अथवा शरीर।[3] निस्तरङ्ग समुद्र की आकृति के समान, पूर्णषाड्गुण्य, चैतन्य और आनन्द के समुद्र वासुदेवकी आद्या अहन्ता लक्ष्मी हैं। पूर्णतः शान्त लक्ष्मी कभी सिसृक्षा के रूप में उच्छूनता को प्राप्त होती हुई षट्कोशत्व को प्राप्त होती है। शक्ति, माया, प्रसूति, प्रकृति, ब्रह्माण्ड और जीवदेह—यही छह

१—सात्त्वतसंहिता तथा लक्ष्मीतन्त्र के आधार पर षडध्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए ब्रजवल्लभ द्विवेदी का कथन है—

तत्रेश्वरेच्छया लब्धगुरुकरुणाकटाक्षस्य मुमुक्षोर्मन्त्राः...मायीयाध्वद्वयादुत्तार्य च तमणिमादीनां भोगानां प्राप्तये स्वस्थानं नयन्ति। अणिमादीनां भोगाद्विरतं तं पश्चादमृतोपमे तत्त्वाध्वनि प्रेरयन्ति। ततस्तत्र सङ्कर्षणादयोऽनुग्रहपराः सन्तस्तं शाश्वते कलाध्वन्यप्ययतां नयन्ति। तत्रस्थः षाड्गुण्यमयो वासुदेवस्तं पश्चात् शब्दब्रह्माभिधे नित्ये स्वात्मनि योजयन्ति। तत्परिज्ञानाच्च मुमुक्षुः सुशान्तं भगवत्पदमधिगच्छति।

वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः; सारस्वतीसुषमा, (सप्तदशे वर्षे १-२, ३-४ अङ्काः) पृ० १८५–८६

२—ल० तं०, २२।३१, ५१।३२

३—कोशः कुलायपर्यायः शरीरापरनामवान्।

वही, ६।५

कोश हैं ।[१] इस प्रकार षट्कोश का परिचय दे कर क्रमशः छहों कोशों का विवेचन किया गया है ।

१ शक्तिकोश

शुद्ध मार्ग से प्रवृत्त होने वाली शक्ति प्रथम कोश है । इस शुद्ध प्रथम उन्मेष रूप शक्ति कोश में सङ्कर्षण अहम् अर्थात् जीव के अभिमानी देवता हैं ।[२] जिस प्रकार प्राणियों की देह में तिल के समान काले रङ्ग का विन्दु विशेष होता है उसी प्रकार सङ्कर्षण में सम्पूर्ण विकार रहता है । इस उपमा का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तिल बिन्दु का मानव देह पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च सङ्कर्षण में रहता हुआ भी किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करता ।[३] सङ्कर्षण की महिषी का नाम श्री है जो ज्ञान और बल से सम्पन्न हैं ।[४] ज्ञान और बल से सम्पन्न सङ्कर्षण की महिषी श्री के समुन्मेष को प्रद्युम्न कहते हैं । यह प्रद्युम्न शक्ति कोश के अभिमानी देवता सङ्कर्षण की बुद्धि के रूप में रहते हैं । भोक्ता और भोग्य की समष्टि उन्हीं में विलीन रहती है । प्रद्युम्न मन के अभिमानी देवता हैं । इनकी महिषी का नाम सरस्वती है, जो वीर्य और ऐश्वर्य नामक गुणों से सम्पन्न हैं ।[५] उनके उन्मेष को अनिरुद्ध कहा गया है । अनिरुद्ध अहङ्कार के अभिमानी देवता माने गये हैं । इनकी महिषी का नाम रति है जो शक्ति और तेज नामक गुणों से सम्पन्न हैं ।[६] छहों गुणों

१— .. ..

साहमेवंविधा शुद्धा क्वचिदुच्छूनतां गता ।
सिसृक्षालक्षणा देवी स्वतन्त्रा सच्चिदात्मिका ॥
षट्कोशतां समापद्ये सत्ताहं वैष्णवी परा ।
शक्तिर्माया प्रसूतिश्च प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥
ब्रह्माण्डं जीवदेहश्चेत्येते षट्कोशसंज्ञिताः ।

वही, ६।१-४

२—वही, ६।५,६

३—वही, ६।७, २।४५

४—वही, ६।७, ८

५—वही, ६।८-११

६—वही, ६।११, १२, १८

का जो युगपद् उन्मेष होता है, उसे वासुदेव नामक प्रथम व्यूह कहते हैं ।[1] वासुदेव की महिषी का नाम शान्ति है । इनको ही शक्ति कहा गया है ।[2]

अन्य पांच कोश

द्वितीय कोश माया कोश है । शक्ति कोश में शुद्ध सृष्टि का वर्णन है । माया कोश से अशुद्ध सृष्टि आरम्भ हो जाती है । अनिरुद्ध की महिषी का नाम रति है । इन्हीं को महालक्ष्मी कहा गया है । यही माया कोश है ।[3] यह राजसी महालक्ष्मी ही समग्र प्रपञ्च सृष्टि का कारण है । तृतीय कोश का नाम प्रसूति कोश है । राजसी महालक्ष्मी, तामसी महामाया और सात्त्विकी महाविद्या के समवाय को ही प्रसूति कोश कहते हैं ।[4] इसके पश्चात् महालक्ष्मी में

१—वही, ६।१६, १७

२—शङ्कर ने पाञ्चरात्र का अप्रामाण्य सिद्ध करते हुए मुख्य प्रहार व्यूहवाद पर ही किया है । उनका कहना है कि—'यह जो कहा जाता है कि वासुदेव से सङ्कर्षण उत्पन्न होता है, सङ्कर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध, इस विषय में हमारा कथन है कि वासुदेवसंज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षणसंज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार अनित्यत्व आदि दोष प्राप्त होते हैं ।' (ब्र०सू०शां०, २।२।४२) प्रसङ्गवश इस आलोचना के लिए अवकाश न देते हुए ल० तं का कथन है कि सङ्कर्षण आदि प्राकृत देव न होकर शुद्धचिदात्मक पुरातन देव हैं । इनको क्रमशः जीव, बुद्धि और अहङ्कार कहा गया है । तत्तत् कार्यों को करने के कारण इनको उक्त नामों से अभिहित किया जाता है । ये वस्तुतः जीव, बुद्धि और अहङ्कार न होकर इनके अभिमानी देवता हैं । (ल० तं०, ६।१२-१४) । इसके अतिरिक्त इस प्रसङ्ग में कहीं भी उत्पत्ति शब्द का प्रयोग नहीं है । सर्वत्र उन्मेष या आविर्भाव आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

३—अनिरुद्धस्य याहन्ता रतिरित्येव संज्ञिता ।
सैव देवी महालक्ष्मीर्मायाकोशः स उच्यते ।

ल० तं०, ६।१८

४—महालक्ष्मीमहामायामहाविद्यामयो महान् ।
प्रसूतिर्नाम कोशो मे तृतीयः परिपठ्यते ॥

वही, ६।२०

प्रद्युम्न के अंश से मानस धाता और श्री, महामाया में सङ्कर्षण के अंश से मानस रुद्र और त्रयी, महाविद्या में अनिरुद्ध के अंश से मानस केशव और गौरी उत्पन्न हुई । धाता और श्री, रुद्र और त्रयी, तथा केशव और गौरी इसी प्रसूति कोश में उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् धाता ने त्रयी के साथ मिलकर अण्ड की उत्पत्ति की ।[1] शङ्कर ने गौरी के साथ मिल कर उसका भेदन किया । उस अण्ड के मध्य में ब्रह्मा ने प्रधान की सृष्टि की, केशव ने पद्मा के साथ उस अण्ड का पालन किया । अण्ड के मध्य में जो सदसदात्मक प्रधान था, उसे सलिल बना कर वासुदेव या केशव ने पद्मा के साथ शयन किया । इसी प्रधान को प्रकृतिकोश कहा गया है ।[2] इस विषय में एक और मत का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कुछ तत्त्व-विशारदों का मत है कि धाता ने त्रयी के साथ मिल कर जिस अण्ड की उत्पत्ति की वह अण्ड ही प्रकृति है ।[3] महत् से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों के साथ जिस अण्ड की सृष्टि की गयी, उसी को ब्रह्माण्ड कोश कहा गया है ।[4] इसके अतिरिक्त अङ्ग और प्रत्यङ्ग से युक्त प्राणियों के शरीर को षष्ठ कोश अथवा जीवदेह कोश कहा गया है ।[5] प्रथम शक्ति कोश में वासुदेव ही तीन रूपों में स्थित था तथा अन्य पाँच कोशों में नाना प्रकार के जीव ही वर्तमान हैं ।[6] इसी को षट्कोश कहते हैं ।

१—वही, ५।७-१२

२—प्रधानं सलिलीकृत्य तच्छेते पुरुषोत्तमः ।
सा प्रोक्ता प्रकृतिर्योनिर्गुणसाम्यस्वरूपिणी ॥
वही, ६।२१,२२

३—विरिञ्चो जनयद्यद्वै पूर्वमण्डं स्वमात्मनि ।
तदेके प्रकृतिं प्राहुस्तत्त्वशास्त्रविशारदाः ॥
वही, ६।२२,२३

४—महदाद्यैः पृथिव्यन्तैरण्डं यन्निर्मितं सह ।
तद् ब्रह्माण्डमिति प्रोक्तं यत्र ब्रह्मा विराडभूत् ॥
वही, ६।२३,२४

५—अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं यच्छरीरं जीविनामिह ।
एषा कोशविधा षष्ठी क्रमशस्तनुतां गता ॥
वही, ६।२४,२५

६—आद्ये कोशे स्वयं देवस्त्रिधैवाहन्तया स्थिताः ।
पञ्चस्वन्येषु कोशेषु जीवा नानाविधा स्थिताः ॥
वही, ६।२६

पञ्चकृत्य

भोक्तृत्व को प्राप्त हुई चित् शक्ति जिस रूप से क्लेश को प्राप्त करती है, वे क्लेश पांच प्रकार के हैं—(१) तम, (२) मोह, (३) महामोह, (४) तामिस्र, और (५) अन्ध। यद्यपि यह चित् शक्ति असङ्गिनी, शुद्ध और अपरिणामिनी है, तथापि वह आबिद्ध रूप को धारण करती है।[1] यह बात कुछ अन्तर्विरुद्ध सी प्रतीत होती है कि चित् शक्ति क्लेश से युक्त होती है।[2] इसका समाधान करते हुए लक्ष्मीतन्त्र में लक्ष्मी के पाँच कृत्यों का वर्णन किया गया है। लक्ष्मी के पाँच कृत्य ये हैं—

(१) तिरोभाव
(२) सृष्टि
(३) स्थिति
(४) संहृति
(५) अनुग्रह।[3]

(१) तिरोभाव शक्ति

लक्ष्मीतन्त्र के क्रम के अनुसार तिरोभाव लक्ष्मी का प्रथम कृत्य है। तिरोभाव का अर्थ है अन्यद्भाव। लक्ष्मी की भोक्ता नामक चित् शक्ति स्वच्छ होते हुए भी लक्ष्मी की जिस शक्ति के कारण प्रकृति के वश में रहती है, उसे तिरोभाव नाम की अविद्या शक्ति कहते हैं।[4] इस तिरोभाव अथवा अविद्या नामक पराशक्ति के पांच पर्व होते हैं—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३)

१—वही, १२।८-१०

२—वही, १२।११

३—तस्याः मे पञ्चकृत्यानि नित्यानि त्रिदशेश्वर।
तिरोभावस्तथा सृष्टिः स्थितिः संहृतिरेव च।
अनुग्रह इति प्रोक्तं मदीयं कर्मपञ्चकम्॥
वही, १२।१३,१४

४—तत्र नाम तिरोभावो न्यद्भावः प्रकीर्त्यते।
स्वच्छापि सा मदीया हि चिच्छक्तिभोक्तृसंज्ञिता॥
मदीयया यया शक्त्या वर्तते प्रकृतेर्वशे।

राग, (४) द्वेष तथा (५) अभिनिवेश।[1] योगसूत्र में इन पांचों को क्लेश के भेद कहा गया है।[2] अनात्मा और अस्वभूत चैत्य में जीव की जो स्वबुद्धि या अहंबुद्धि होती है, उसे अविद्या कहते हैं। अविद्या सम्बन्धी लक्ष्मीतन्त्र का यह कथन योगसूत्र की ओर सङ्केत सा करता प्रतीत होता है। योगसूत्र का कथन है कि अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों में नित्य शुचि, सुख तथा आत्मा के ज्ञान को अविद्या कहते हैं।[3] इसका नाम तम भी है।[4] चैत्य के अहं के रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर उसमें जो मान उत्पन्न होता है, उसे अस्मिता कहते हैं। मोह, अस्मिता, महामोह आदि पर्यायवाची शब्द हैं। अविद्या के कारण चैत्य और चेतन में एकभावापत्ति हो जाती है।[5] अस्मिता से आहित वासना को तथा सुख की पुनः पुनः स्मृति में कारणभूत वासना को राग कहते हैं। रञ्ज्य-विषयक यह तृतीय क्लेश पर्व है।[6] अस्मिता से

तिरोभावाभिधाना मे साविद्याशक्तिरुच्यते ॥

वही, १२।१५, १६

१—वही, १२।२०

२—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।

योगसूत्र, २।३

३—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

वही, २।५

४—तमस्तु प्रथमं पर्व नामाविद्येति तस्य तु ।
अनात्मन्यस्वभूते च चैत्ये जीवस्य या मतिः ॥
स्वतयाहन्तया चैव तमोऽविद्या च सा स्मृता ।

ल० तं०, १२।२१, २२

५—स्वीकृतेऽहन्तया चैत्ये मानो यस्तत्र जायते ।
अस्मिताख्यो महामोहो द्वितीयं क्लेशपर्व तत् ॥
चैत्यचेतनयोरेकभावापत्तिरविद्यया ।
मोहोऽस्मिता महामोह इति शब्दैर्निगद्यते ॥

वही, १२।२३,२४

६—सुखानुस्मृतिहेतुर्या वासनास्मितयाहिता ।
स रागो रञ्ज्यविषयस्तृतीयं क्लेशपर्व तत् ॥

वही, १२।२४, २५

आहित, तथा दुःख की पुनः पुनः स्मृति में हेतुभूत वासना को द्वेष कहते हैं। यह द्वेष्य-विषयक चतुर्थ क्लेश पर्व है।[1] दुःख को छोड़ने तथा योग द्वारा सुख को प्राप्त करने के मध्य में जो वित्रास उत्पन्न हो जाता है उसे अभिनिवेश कहते है। इसे अन्ध भी कहते हैं। यह पांचवाँ क्लेश-पर्व है।[2] इन सभी क्लेश-पर्वों का प्रायः इसी रूप में योगसूत्र में वर्णन है।[3]

इन पाँच प्रकार के क्लेश-पर्वों से निवृत्ति के लिए अर्थात् दुःख से मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो त्रिविध कर्म करता है उसी को कर्म कहा गया है।[4] इस कर्म से उत्पन्न हुआ सुख, दुःख तथा सुख-दुःख मिश्रित फल। इसी को तीन प्रकार का विपाक कहा गया है।[5] क्लेश तथा कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाली वासनाओं को आशय कहते हैं। ये वासनाएं अन्तःकरण में ही निवास करती हैं। वासनाएं सदैव क्लेश पर्वों द्वारा उत्पन्न

१—दुःखानुस्मृतिहेतुर्या वासनास्मितयाहिता।
स द्वेषो द्वेष्यविषयश्चतुर्थं क्लेशपर्व तत्॥

वही, १२।२४, २५

२—दुःखं जिहासतो योगैः प्रेप्सतश्च सुखं तथा।
तदन्तरायैर्वित्रासो मध्ये यो नाम जायते।
अन्धाख्योऽभिनिवेशः सः पञ्चमं क्लेशपर्व तत्॥

वहीं, १२।२६, २७

३—योगसूत्र, २।३-९

४—देहमात्मतया बुद्ध्वा ततस्तादात्म्यमागतः।
रञ्जनीयमभिप्रेप्सुर्जिहासुश्च तथेतरत्॥
तदन्तरायवित्रस्तस्तत्प्रतीकारमाचरन्।
इष्टस्य प्राप्तयेऽनिष्टविघाताय च चेतनः।
यदयं कुरुते कर्म त्रिविधं त्रिविधात्मकम्॥
तत्कर्म गदितं सद्भिः साङ्ख्ययोगविचक्षणैः।

वही, १२।२८—३०

५—तत्प्रसूतं सुखं दुःखं तथा दुःखसुखात्मकम्।
विपाकस्त्रिविधः प्रोक्तस्तत्त्वशास्त्रविशारदैः॥

यही, १२।३१

होती हैं। इसी प्रकार वासनाएं भी कर्मों के आरम्भ में कारण हैं।[१] सुख आदि वासनाएं विपाक के द्वारा त्रिधा उत्पन्न होती हैं। क्लेश, कर्म, विपाक, और आशय, इन चार लक्षणों से युक्त, जीवकोश को बांधने वाली इस शक्ति का नाम तिरोभाव है।[२]

२ सृष्टि शक्ति

दूसरी शक्ति का नाम सृष्टि शक्ति है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम दो प्रकार की सृष्टियों का उल्लेख है — (१) शुद्ध सृष्टि, (२) अशुद्ध सृष्टि।[३] शुद्ध सृष्टि में चातुर्व्यूह, व्यूहान्तर, विभव, विभवान्तर तथा अर्चारूप का आविर्भाव होता है। अशुद्ध सृष्टि तीन पर्वों में होती है। प्रथम पर्व में रजोगुण प्रधान महालक्ष्मी, तमोगुण प्रधान महामाया तथा सत्त्वगुण प्रधान महाविद्या का आविर्भाव हुआ। इसके पश्चात् प्रद्युम्न के अंश से महालक्ष्मी में मानस धाता और श्री, सङ्कर्षण के अंश से महामाया में मानस रुद्र और त्रयी, तथा अनिरुद्ध के अंश से महाविद्या में मानस केशव और गौरी की उत्पत्ति हुई। द्वितीय पर्व में धाता और त्रयी से अण्ड की उत्पत्ति, रुद्र और गौरी द्वारा उसका भेदन, तथा केशव और श्री के द्वारा अण्ड के मध्य में स्थित प्रधान की रक्षा हुई। उस के पश्चात् प्रधान को सलिल बना कर केशव श्री के साथ शयन रत हो गये। तृतीय पर्व में जल में सोते हुए केशव की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई। नाभिकमल में धाता और त्रयी का पुनः आविर्भाव हुआ। इन तीनों से तामस महान् की और महान् से अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पच्चीस तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर ब्रह्मा ने प्रजापति को

१—वासना आशयाः प्रोक्ताः क्लेशकर्मविहाकजाः।
अन्तःकरणवर्तिन्यः समन्ताच्छेरते हिताः॥
जायन्ते वासना नित्यं पञ्चभिः क्लेशपर्वभिः।
सदृशारम्भहेतुश्च वासना कर्मणां तथा॥

वही, १२।३२,३३

२—चतुर्भिर्लक्षणैरित्थंभूता क्लेशादिनामकैः।
बन्धनी जीवकोशस्य तिरोभावाभिधा विधा।

वही, १२।३४,३५

३—वही, १२।३६,३७

उत्पन्न किया, प्रजापति ने मनुओं तथा चेतनों और अचेतनों की सृष्टि की। यह अशुद्ध सृष्टि है।[१]

इस सृष्टि को पुनः सात प्रकार की कहा गया है। एक तो वह जो निरन्तर प्रजापति के कर्म के द्वारा की जाती है तथा अन्य छह सृष्टियाँ षट्कोश से सम्पन्न होती हैं।[२] प्रकृति से होने वाले सृष्टि-क्रम में सृष्टि को पुनः त्रिविध माना गया है—(१) भाविकी, (२) लैङ्गिकी और (३) भौतिकी।[३] प्रकृति में जो महद् आदि तत्त्वों की स्थिति है, उसे भाव सृष्टि कहते हैं।[४] विराट् तथा अन्य भूतों के समष्टि-लिङ्ग तथा व्यष्टि-लिङ्ग की सृष्टि को लैङ्गिकी सृष्टि कहते हैं।[५] लिङ्ग में ही स्थित चित् शक्तियाँ संसरण करती हैं। जब सत्कर्म करने वाले जीवों को शुद्ध भगवत् ज्ञान हो जाता है, तभी ये लिङ्ग निवर्तित होते हैं अन्यथा नहीं। विराट् के स्थूल देह का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड है।[६] शरीरधारियों के अन्य चार प्रकार के शरीरों–जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज की उत्पत्ति को भौतिकी सृष्टि कहते हैं।[७] यही लक्ष्मी की सृष्टि शक्ति है।

१—वही, अध्याय २—५

२—... ... ... सा पुनः सप्तधा स्थिता।
अनिशं क्रियते त्वेका प्राजापत्येन कर्मणा॥
षट्कोशसम्भवास्त्वन्यास्तत्तत्कालसमुद्भवाः।

वही, १२।३७, ३८

३—सर्गक्रमे प्रकृत्युत्थे सृष्टिर्ज्ञेया त्रिधा पुनः।
भाविकी लैङ्गिकी चैव भौतिकी चेति भेदतः॥

वही, १२।३८, ३९

४—वही, १२।४०

५—समष्टिव्यष्टिभेदेन लिङ्गं यत्सृज्यते मया।
विराजश्च तथान्येषां भूतानां लिङ्गजा तु सा॥

वही, १२।४०, ४१

६—वही, १२।४१-४६

७—चतुर्विधानि चान्यानि शरीराणि शरीरिणाम्।
एषा मे भौतिकी सृष्टिरितीदं सृष्टिचिन्तनम्॥

वही, १२।४७

३ स्थितिशक्ति

लक्ष्मी की तीसरी शक्ति का नाम स्थिति शक्ति है। आद्य सृष्टिक्षण तथा सञ्जिहीर्षाक्षण के मध्यवर्तियों का जो स्थैर्यकरण है, वह अनेक रूपों के साथ स्थितिशक्ति कहा गया है। लक्ष्मी तथा विष्णु द्वारा की गयी स्थिति चार प्रकार की है। प्रथम वह जिसका वर्णन तत्त्वचिन्तकों ने किया है, दूसरी का वर्णन मन्वन्तराधिपों (राजाओं) के द्वारा किया गया है, अनुपुत्रों ने तीसरी का वर्णन किया है तथा क्षुद्रों ने चौथी का।[1] इसी का नाम स्थिति शक्ति है।[2]

४ संहृति शक्ति

इस शक्ति के सात भेद हैं—(१) नित्या, (२) नैमित्तिकी, (३) प्राकृती, (४) प्रासूती, (५) मायी, (६) शाक्ती तथा (७) आत्यन्तिकी। इनमें प्रथम चार तो श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णित हैं[3] तथा शेष तीन संहृतियाँ लक्ष्मीतन्त्र की कल्पना प्रतीत होती हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित इन चार प्रकार की संहृतियों या प्रलयों का अर्थ निम्नलिखित है। प्रतिदिन ब्रह्मा आदि भूत उत्पत्ति तथा प्रलय को प्राप्त होते हैं। यही नित्य प्रलय है।[4] तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्षण परिणाम दिखायी देता है। इसी को नित्य प्रलय कहना चाहिए। दूसरा प्रलय है—

१—वही, १२।५०-५२

२—आद्यसृष्टिक्षणे यस्तु सञ्जिहीर्षाक्षणञ्च यः।
यत्स्थैर्यकरणं नाम तयोरन्तरवर्तिनाम्।
नानारूपैर्मदीयैः सा स्थितिशक्तिः परा मम॥
वही, १२।४९, ५०

३—नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी।
भागवत०, १२।४।३८

४—नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते॥
वही, १२।४।३५

नैमित्तिक। चार सहस्र युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही युगों का एक कल्प होता है, जिसमें चतुर्दश मनु होते हैं। ब्रह्मा की एक रात्रि भी इतने ही समय की होती है। ब्रह्मा के दिन के अन्त में तथा रात्रि के आरम्भ में प्रलय होता है। ये भूर्, भुवर्, तथा स्वर् तीनों लोक उस समय नष्ट हो जाते हैं। इसमें अनन्त तथा ब्रह्मा सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् करके शयन करते हैं। इसी को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं।[1] नैमित्तिक का अर्थ है किसी निमित्त से अर्थात् किसी कारण से होने वाला। प्रकृत प्रलय ब्रह्मा की निद्रा के कारण होता है; इस कारण इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। तृतीय प्रलय है–प्राकृतिक प्रलय। जब ब्रह्मा के वर्ष के दो परार्ध बीत जाते हैं तब महत् अहङ्कार तथा पांच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध) ये सात प्रकृतियाँ प्रलय का विषय बनती हैं। इसी को प्राकृतिक प्रलय कहा जाता है।[2] इस प्रलय का श्रीमद्भागवत में विस्तृत वर्णन है।[3] चतुर्थ है–आत्यन्तिक प्रलय। जब जिज्ञासा के द्वारा आत्मा की उपाधिभूत अहङ्कार का नाश हो जाता है, इस प्रकार जब असत्य अहङ्कार का बन्धन नष्ट हो जाता है, उस समय जो अविच्छिन्न आत्मानुभव होता है, उसी को आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है।[4]

१—चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्प्यन्ते प्रलयाय हि॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्ताशनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः॥

वही, १२।४।२-४

२—द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते॥

वही, १२।४।५, ६

३—वही, १२।४

४—यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्।
यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण में चतुर्विध प्रलयों का वर्णन है। अन्य कतिपय पुराणों में प्रलय का प्रायः इसी अर्थ में वर्णन है। लक्ष्मीतन्त्र में भी जहाँ तक इन चार प्रलयों का प्रश्न है प्रायः मतवैभिन्य नहीं है, किन्तु सात प्रकार के प्रलयों को स्वीकार करने के कारण लक्ष्मीतन्त्र ने इस परम्परा से अपनी विशेषता तो अवश्य स्थापित कर ली है। सात प्रकार के प्रलयों को स्वीकार करने वाला सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है। लक्ष्मीतन्त्र में प्रलयों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

जरायुज आदि प्राणियों का नित्य नाश होता है। उसको नित्या संहृति या नित्य प्रलय कहते हैं।[1] इस प्रलय के सम्बन्ध में उपर्युक्त भागवत के मत के साथ पूर्णतः मतैक्य है। वस्तुतः सभी प्राणी परिणाम स्वभाव वाले हैं। अतः प्रतिक्षण उनमें होने वाले परिवर्तन को ही नित्य प्रलय कहते हैं, क्योंकि यह नित्य होता ही रहता है। दूसरा प्रलय नैमित्तिक है। इसके विषय में भी किसी प्रकार की मत-विभिन्नता नहीं है। ब्रह्मा के निद्रारत हो जाने के कारण भूर्, भुवर्, तथा स्वर् नामक तीन लोकों का जो नाश होता है। उसको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्मा के प्रस्वाप के निमित्त यह प्रलय होता है। इस कारण इसे नैमित्तिक प्रलय कहा गया है। तृतीय प्राकृतिक प्रलय वह है जिसमें महदादि पृथिव्यन्त तत्त्वों का लय होता है। चौथी प्रसूति संहृति है, जिसके अनुसार अव्यक्त या प्रकृति का भी विलय हो जाता है। पाँचवी संहृति का नाम मायी है, जिसके अनुसार प्रसूति की क्रिया भी रुक जाती है। छठी शक्ति संहृति वह है, जिसमें विषयों के सहित माया का लय हो जाता है। सातवीं संहृति का नाम है आत्यन्तिकी संहृति। समाधि की अवस्था में जो ईश्वर में योगियों का विलय होता है उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।[2]

द्वित्वाच्युतात्माऽनुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्गसम्प्लवम् ॥
वही, १२।४।३३,३४

१—नाशो जरायुजादीनां भूतानां नित्यदा तु या ।
सा नित्या संहृतिस् ... ... ॥
ल० तं०, १२।५३

२— .. .. त्वन्या शक्र नैमित्तिकी स्मृता ॥
त्रैलोक्यविषया सा तु ब्रह्मप्रस्वापहेतुका ।
तृतीया प्राकृती प्रोक्ता महदादिव्यपाश्रया ॥

इसके अतिरिक्त लक्ष्मीतन्त्र में इस विषय का विस्तार नहीं प्राप्त होता है।

५ अनुग्रह शक्ति

पांचवीं तथा अन्तिम शक्ति का नाम है अनुग्रह शक्ति। यह अनुग्रह शक्तिपात नाम से भी व्यवहृत किया जाता है।[1] अविद्या से आविद्ध होकर, अस्मिता आदि के द्वारा वश में किये गये, लक्ष्मी की तिरोधान नामक शक्ति के द्वारा तिरोभूत जीव विविध क्लेशों के भागी होते हैं। ये जीव नित्य अपने ही कर्मों के द्वारा संसार रूपी अग्नि के मध्य पकाये जाते हैं। सुख के अभिमानी जीव सदा अज्ञान के द्वारा दुःख में धर्षित किये जाते हैं; अपूर्व तथा विचित्र, चर और अचर योनियों में भटकते रहते हैं। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा वेदना के द्वारा वे रात-दिन जन्म और मरण के बन्धन में बांधे जाते हैं। इस प्रकार क्लेशों से पीड़ित जीवों को लक्ष्मी करुणा से पूर्ण होकर देखती हैं। इस कृपा-कटाक्ष से सभी जीव दुःखरहित हो जाते हैं। इस कृपा-कटाक्ष को लक्ष्मी की अनुग्रह नामक शक्ति कहा गया है, जिसका दूसरा नाम शक्तिपात है।[2]

प्रासूती तु चतुर्थी स्यादव्यक्तविषया तु सा।
मायी या पञ्चमी प्रोक्ता प्रसूतिविषया तु सा॥
शाक्ती षष्ठी तु विज्ञेया मायासविषया तु सा।
सप्तम्यात्यन्तिकी प्रोक्ता विलयो योगिनामपि॥
सूक्ष्माणि विनिवर्तन्ते शरीराणि तदा सताम्।
एषा सप्तविधा शक्र संहृतिस्ते मयोदिता॥

वही, १२।५३-५७

१—सोऽनुग्रह इति प्रोक्तः शक्तिपातापराह्वयः।

वही, १३।८

२—अनुग्रहात्मिका शक्र शक्तिर्मे पञ्चमी स्मृता।
... ...
अविद्यया समाविद्धा अस्मितादिवशीकृताः।
मच्छक्त्यैव तिरोभूतास्तिरोधानाभिधानया॥
... ...
निबद्धास्त्रिविधैर्बन्धैः स्थानत्रयविवर्तिनः॥
संसाराङ्गारमध्यस्थाः पच्यमानाः स्वकर्मणा।

लक्ष्मी के इस शक्तिपात का क्षण कोई भी हो सकता है। यह शक्तिपात न तो पुरुषकार से न किसी अन्य हेतु से ही होता है। केवल स्वेच्छा से ही लक्ष्मी कभी भी, किसी पर भी अनुग्रह करती हैं। तब से लेकर वह जीव स्वच्छ अन्तःकरण वाला होकर ईश्वर के साथ कर्मसाम्य को प्राप्त करके भक्तिपूर्वक, समग्र क्लेश तथा बन्धनों को त्यागकर प्रकाशित होता हुआ, लक्ष्मी नारायण नामक परं ब्रह्म को प्राप्त करता हैं।[1]

सुखाभिमानिनो दुःखे नित्यमज्ञानर्धर्षिताः ॥
ता योनीरनुधावनतश्चराचरविभेदिनीः।
अपूर्वापूर्वभूताभिश्चित्रिताभिः स्वहेतुभिः ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिरहर्निशम् ।
जननानि प्रबुध्नतो मरणानि तथा तथा ॥
मया जीवाः समीक्ष्यन्ते श्रिया दुःखविवर्जिताः।
सोऽनुग्रह इति प्रोक्तः शक्तिपातापराह्वयः ॥

वही, १३।१-८

१—अहमेव हि जानामि शक्तिपातक्षणं च तम्।
नासौ पुरुषकारेण न चाप्यन्येन हेतुना ॥
केवलं स्वेच्छयैवाहं प्रेक्षे कञ्चिद् कदाप्यहम्।
ततः प्रभृति स स्वच्छस्वच्छान्तःकरणः पुमान् ॥
... ...
विधूय विविधं बन्धं द्योतमानस्ततस्ततः।
प्राप्नोति परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥

वही, १३।१०-१४

तृतीय अध्याय

सृष्टि-क्रम

सृष्टि

आदि काल से लेकर आज तक सृष्टि रहस्य ही रही है। इस रहस्य ने ही मानव बुद्धि को उसकी सीमाओं से परिचित कराया है। सृष्टि रहस्य से उलझ कर मानव बुद्धि को अपनी दयनीय स्थिति का आभास प्राप्त हो चुका है, जब कि उक्त रहस्य उतना ही गम्भीर और अज्ञेय है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से सम्बद्ध प्रश्नों को अनुत्तरणीय कहा गया है। उसका कथन है कि कौन पुरुष जगत् के कारण को जानता है? कौन इसका वर्णन कर सकता है? यह विविध सृष्टि किस उपादान कारण से उत्पन्न हुई है? अथवा किस निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है? इस प्रश्न का उत्तर देवता नहीं दे सकते, क्योंकि वे स्वयं सृष्टि के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। जब देवताओं की यह स्थिति है, तो कौन इस जगत् के कारण को बता सकता है?[1] तैत्तिरीयब्राह्मण भाष्य में इसका

१—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्थ करते हुए सायण का कथन है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सृष्टि के कारण का ज्ञान नहीं हो सकता ।[१] ऋग्वेद का तो यहाँ तक कथन है कि सृष्टि के कारण तथा स्वरूप आदि के बारे में परम व्योम में निवास करने वाला परमेश्वर ही जान सकता है, अथवा इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है कि वह जानता ही है ।[२]

अतः सृष्टि के रहस्य को देव और मनुष्य तो समझ ही नहीं सकते क्योंकि वे स्वयं सृष्टि के अन्तर्गत आते हैं । ईश्वर, जो सृष्टि का अध्यक्ष है, वही यह सब जान सकता है । किन्तु वह जानता ही है, यह भी सन्दिग्ध है । इस वर्णन से सृष्टि-रहस्य की गम्भीरता का परिचय मिलता है । इस रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने में देव तथा मानव बुद्धि सीमित है । केवल ईश्वर ही इस विषय में कुछ कह सकने की स्थिति में है । सम्भवतः इसी कारण ईश्वर प्रोक्त आगमों में सृष्टि-क्रम का विशद वर्णन है । यद्यपि यह निश्चित है कि जिस प्रकार ऋषियों द्वारा रचे गये वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है, उसी प्रकार पुरुषों द्वारा रचे गये आगमों को सम्प्रदायों के अनुसार ईश्वर-कृत कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर के माध्यम से मानव-बुद्धि ने आगमों में सृष्टि-रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न किया है ।

सृष्टि-रहस्य के प्रति जिज्ञासा की जो परम्परा वेदों से आरम्भ हुई, वही पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि साहित्य में प्रमुखता के साथ प्रतिष्ठित है । पाञ्चरात्र आगमों के अन्तर्गत सृष्टि के प्रश्न को मुख्य दार्शनिक समस्या के रूप में स्वीकार किया गया है । जयाख्यसंहिता की भूमिका में बी० भट्टाचार्य का कथन है कि पाञ्चरात्र आगमों में दर्शन शास्त्र (Philosophy) तथा विश्वमीमांसा (Cosmology) में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रखा

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद कुत आबभूव ॥

ऋग्वेद, १०।१२९।६

१—न तावत्प्रत्यक्षेण पश्यन्ति, तदानीं स्वयमेवाभावात्, नाप्यनुमातुं शक्ताः, तद्योग्ययोर्हेतुदृष्टान्तयोरभावात् ।

तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्य, २।८।९

२—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋग्वेद, १०।१२९।७

गया है ।[1] यह दोषारोपण इस प्रकार किया गया है जैसे कि दर्शनशास्त्र (Philosophy) और विश्वमीमांसा (Cosmology) में वस्तुतः कोई अन्तर हो । विश्वमीमाँसा दर्शनशास्त्र का अनिवार्य अङ्ग है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भट्टाचार्य ने Cosmology शब्द का प्रयोग Cosmogony[3] अर्थात् सृष्टिप्रक्रिया के अर्थ में किया है । इन्होंने स्वयं Cosmology के लिए Story of creation शब्द का प्रयोग किया है, जब कि Story of creation अर्थ Cosmology का न होकर Cosmogony का है । और फिर सृष्टि प्रक्रिया (Cosmogony) भी दर्शनशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है । पाञ्चरात्र आगमों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें सृष्टिप्रक्रिया को दर्शनशास्त्र के अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है ।

1—It must be remembered that in all Pāñcarātras as also in many Tantras the philosophy and cosmology are inseparably intertwined so that it becomes almost impossible to describe the philosophy without referring to the story of creation.

जया० सं०, फोरवर्ड, पृ० १६

2—Cosmology का प्रामाणिक अर्थ है—

"Cosmology : A branch of philosophy which treats the origin and structure of the universe......The main topics of cosmology, according to Hegel (Encyclopaedia, section 35) are the contingency, necessity, eternity, limitations & formal laws of the world, the freedom of man & the origin of evil.

The Dictionary of Philosophy, pp. 68, 69

3—Cosmogony (Gr. cosmos a. gonia, producing or creating the world) is a pictorial treatment of the way in which the world or the universe came into being...The basal principles common to all mythological cosmogonies are : To deduce the creation of the world either from the fewest possible elements or from a single material principle...or from a spiritual or abstract principle.

The Dictionary of Philosophy, p. 68

पाञ्चरात्र आगमों में लक्ष्मीतन्त्र के अतिरिक्त अत्यन्त प्रसिद्ध जयाख्य-संहिता तथा अहिर्बुध्न्य-संहिता में सृष्टि विवेचन को असाधारण महत्त्व प्रदान किया गया है। अतः लक्ष्मीतन्त्र का सृष्टि विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व उक्त संहिताओं का विवेचन उपयोगी होगा।

जयाख्यसंहिता में सृष्टि-विवेचन

जयाख्यसंहिता के अनुसार सृष्टि निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त है—

१—ब्रह्म सर्ग
२—प्राधानिक सर्ग
३—शुद्ध सर्ग

जयाख्य संहिता में इसी क्रम के सर्गों का वर्णन किया गया है जबकि इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम शुद्ध सर्ग का ही विवेचन किया गया है।[1]

१–शुद्ध सर्ग

ज्ञान और आनन्द स्वरूप पर वासुदेव से अच्युत उत्पन्न हुए। अच्युत से भास्वर विग्रह वाले सत्य की उत्पत्ति हुई। सत्य ने स्वयं से स्वयं को पुरुष के रूप में उत्पन्न किया। इस प्रकार वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष—ये तीन देव उत्पन्न हुए।[2] वस्तुतः तीन होते हुए भी पर वासुदेव से इनका पृथक् अस्तित्व नहीं है।[3] पुरुष के रूप में आविर्भूत होने वाले वासुदेव सभी देवों के

१—शुद्धसर्गमहं देव ... ... ।
सर्गद्वयस्य चैवास्य यः परत्वेन वर्तते ॥
जया० सं०, ४१

२—प्रकाशरूपी भगवानच्युतश्चासृजद्द्विज ।
... ...
क्षोभयित्वा स्वमात्मानं सत्यं भास्वरविग्रहम् ।
... ...
स चिन्मयाख्य उत्पाद्यात्मानमात्मना ।
पुरुषाख्यमनन्तं च प्रकाशप्रसरं महत् ॥
वही, ४।४-७

३—पुमान् सत्योऽच्युतश्चैव चिद्रूपं त्रितयं तु तत् ।

अन्तर्यामी हैं।[1] तथा इसी रूप में वासुदेव वासना से बँधे हुए जीवों को बन्धन से मुक्ति पाने के लिए पथ प्रदर्शित करते हैं।[2] लोक कल्याण के लिए आविर्भूत होने वाले अवतार भी इनके ही अंश हैं।[3]

२–प्राधानिक सर्ग

द्वितीय प्राधानिक सृष्टि में साङ्ख्योक्त तत्त्वों की सृष्टि होती है। प्रधान तत्त्व अनादि, अजन्मा, अव्यक्त तथा तीनों गुणों से युक्त है। यह सत्त्व, रजस् तमस् नामक तीनों गुण स्वतः भिन्न होते हुए भी प्रधान में अभिन्न रूप से रहते हैं।[4] जब अविभक्तावस्था से ये गुण विभक्त होते हैं तो क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् की उत्पत्ति होती है।[5] तीनों गुणों के समूह से धर्म, ज्ञान आदि लक्षणों वाली बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि से तीन प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न होता है—(१) प्रकाशात्मा, (२) विकृत्यात्मा तथा (३) भूतात्मा। प्रथम प्रकाशात्मा अथवा तैजस अहङ्कार से पाँच ज्ञानेद्रियां तथा मन की उत्पत्ति होती है। द्वितीय विकृत्यात्मा अहङ्कार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तृतीय भूतात्मा अहङ्कार से भूतयोनियों अर्थात् पञ्च तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन पञ्च तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यह प्राधानिक सर्ग है। प्रधान या प्रकृति के जड होने के कारण इससे होने वाला प्राधानिक सर्ग जडात्मक है।[6]

यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रधान जड है, उससे उत्पन्न होने वाला भी जड

शान्तसंवित्स्वरूपस्थे च वासुदेवेऽवतिष्ठते ॥
वही, ४।१३, १४

१—वही, ४।८
२—वही, ४।१०
३—वही, ४।११
४—अनादिमजमव्यक्तं गुणत्रयमयं द्विज ।
विद्धि प्रदीपस्थानीयं भिन्नमेकात्मलक्षणम् ॥
वही, ३।२

५—विभक्तं च तदुत्पन्नं क्रमात् सत्त्वं रजस्तमः ।
वही, ३।३

६—वही, ३।४-८

है, तो जड पदार्थों में किस प्रकार उत्पाद्य तथा उत्पादकत्व का सम्बन्ध सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त के माध्यम से दिया गया है कि जिस प्रकार बीज तथा व्रीहिकण स्वभाव से ही जड होते हैं तथापि बीज उत्पादक तथा व्रीहिकण उत्पाद्य होते हैं, उसी प्रकार यद्यपि प्रधान तथा प्राधानिक सर्ग जड हैं तथापि प्रधान उत्पादक और प्राधानिक सर्ग उत्पाद्य हैं।[१]

इससे एक और प्रश्न उठता है। वह यह कि यह कथन कि जिस प्रकार लौह अयस्कान्त मणि के संयोग से भिन्न दिखाई देता है उसी प्रकार चेतन के संयोग से अचेतन भी चेतनवत् प्रतीत होता है, उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि जड प्रकृति तथा चिन्मात्र का संयोग उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार का।[२] इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि चिदात्मक जीव अनादि वासना से युक्त है। जीव को वासना से मुक्त करने के लिए पर ब्रह्म से उसकी शक्ति उदित होती है। वह ब्रह्म के सङ्कल्प से प्रेरित होकर जीव को वासना से मुक्त करती है। इसी प्रकार कर्मों का क्षय हो जाने पर वह ब्रह्म के साथ एकात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। माया के आधार पर स्थित, शुभ तथा अशुभ स्वरूप वाली अपनी अपनी वासनाओं को आत्मा ईश्वर की शक्ति से संयुक्त होकर जानता है। ऐसी स्थिति में विवेक-पूर्वक अनासक्त होकर जब जीव वासना के फलों का भोग करता है तब वह क्रमशः बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार चित् और अचित् का संयोग बन्धन में तथा दोनों का वियोग मोक्ष में हेतु है। यही चेतन और अचेतन के सम्बन्ध का प्रयोजन है।[३]

जयाख्यसंहिता के 'फोरवर्ड' में बी० भट्टाचार्य ने सृष्टि विधा का वर्णन करते हुए प्राधानिक सर्ग को स्पष्ट करने के लिए एक सारणी प्रस्तुत की है।[४] वह सारणी यहाँ यथावत् प्रस्तुत है—

१—वही, ३।९-१०
२—वही, ३।१४-१६
३—वही, ३।१७-१८
४—वही, 'फोरवर्ड', पृ० २०
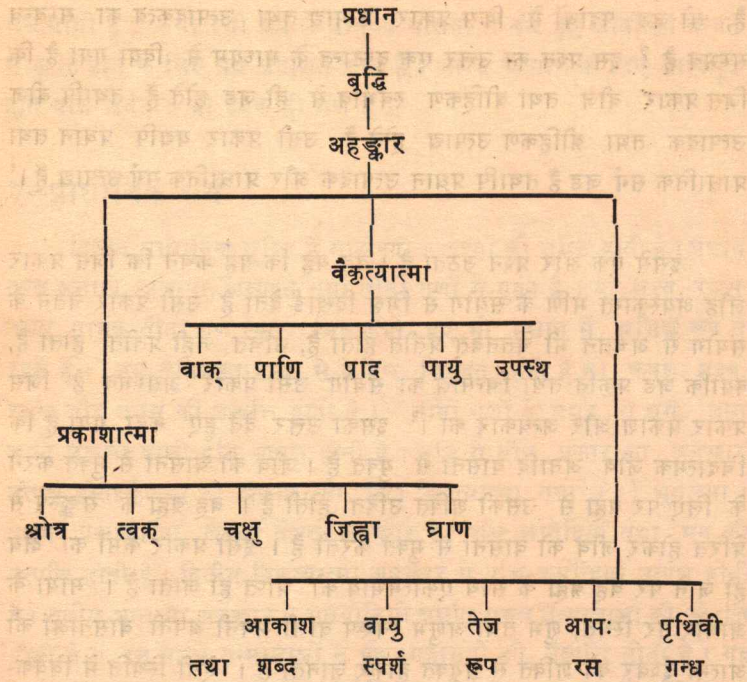
३—ब्रह्मसर्ग

तृतीय तथा अन्तिम सर्ग का नाम है—ब्रह्मसर्ग। विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की सृष्टि हुई।[1] 'अस्मि' इस अहङ्कार को प्राप्त होकर तथा रजोगुण से आविष्ट होकर ब्रह्मा ने विविध सृष्टि की रचना की।[2] रजोगुण के आधिक्य के कारण ब्रह्मा अपनी कृति को धारण न कर सके।[3] अतः इसे धारण करने के लिए भगवान् वासुदेव ने समुद्र के अन्दर योग-निद्रा ग्रहण की।[4] ब्रह्मा के दो स्वेदबिन्दुओं से मधु और कैटभ नामक दो दुर्धर्ष राक्षस

१—वही, २।३५
२—वही, २।४०
३—वही, २।४३
४—वही, २।४५

उत्पन्न हुए। उन्होंने सम्पूर्ण लोक विजित कर लिया तथा ब्रह्मा के वेदों का अपहरण कर लिया। इससे ब्रह्मा बहुत व्याकुल हुए। अधर्म स्थापन के द्वारा जगत् की दुरवस्था करके वे दोनों राक्षस पुनः जल में प्रविष्ट हो गये।[1] इसके अनन्तर मुनियों द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्मा ने ईश्वर की स्तुति की। प्रसन्न होकर उन्होंने ब्रह्मा को पुनः वेद प्रदान किये तथा उन दोनों राक्षसों का वध किया।[2] यह ब्रह्म सर्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के सर्ग हैं, जो असङ्ख्येय हैं।[3]

अहिर्बुध्न्य-संहिता में सृष्टि विवेचन

अहिर्बुध्न्य-संहिता के अन्तर्गत सृष्टि-क्रिया मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—

(१) शुद्ध सृष्टि

(२) शुद्धेतर सृष्टि

डॉ० श्रैडर ने विषय को ध्यान में रखते हुए शुद्धेतर-सृष्टि को दो अवान्तर भागों में विभक्त किया है—(१) मुख्य (Primary) तथा गौण (Secondary)। मुख्य-शुद्धेतर-सृष्टि को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) माध्यमिक (Intermediate Creation) तथा (२) अपर (Lower Primary Creation)।[4] डॉ० श्रैडर द्वारा किया गया यह विभाजन यथावत् रूप में अहिर्बुध्न्य-संहिता के प्रस्तुत संक्षिप्त सृष्टि-विवेचन के लिए स्वीकार किया गया है।

१—वही, २।४६-५६

२—वही, २।५७-५७

३—इत्येष कथितस्सर्गो मुने ब्राह्मो मया तव।
अन्ये ह्यनेकरूपाश्च सर्गा बहुतरा मताः।
ईदृक्प्रकाशाः स्थूलाश्च सङ्ख्या येषां न विद्यते।

वही, २।७३, ७४

4— 'This non-pure creation falls into a primary and a secondary one, and the former, again, consists of two well-defined stages of which the first, to be described in that section, may well be called the intermediate creation.

I. Pāñ, p. 60

१–शुद्ध सृष्टि

प्रलय की अवस्था में सम्पूर्ण कार्य-जगत् प्रसुप्त था, पूर्णरूपेण समता की स्थिति थी तथा ईश्वर के छहों गुण पूर्णत: स्तिमित थे। प्रलयकालीन ब्रह्म का यही स्वरूप है। उस ब्रह्म की सर्वथा शान्त तथा शून्यत्व-स्वरूप वाली शक्ति कभी उन्मेष को प्राप्त होती है।[१] इस प्रकार उन्मेष को प्राप्त होने वाली शक्ति के भेद हैं—(१) क्रिया शक्ति तथा (२) भूति शक्ति।[२] लक्ष्मी की सौदर्शनी कला (सुदर्शन भाग) क्रिया शक्ति है।[३] यह शक्ति जब अनुलोम क्रम से प्रवृत्त होती है तब सर्ग तथा जब प्रतिलोम क्रम से प्रवृत्त होती है प्रलय होता है।[४]

व्यूहों का आविर्भाव

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छह गुणों के तीन जोड़ों (युग्मों) से शुद्ध-सृष्टि प्रवृत्त होती है। प्रथम युग्म ज्ञान और बल से ईश्वर का सङ्कर्षण रूप आविर्भूत होता है। ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न रूप, तथा शक्ति और तेज के समुत्कर्ष से अनिरुद्ध रूप आविर्भूत होता है,[५] किन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं कि ये तीनों व्यूह केवल दो ही दो गुणों से सम्पन्न

१—तस्य स्तैमित्यरूपा या शक्तिः शून्यत्वरूपिणी।
स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित्क्वचिदुन्मेषमृच्छति।
अहिर्बु०, ५।३, ४

२—या सा शक्तिर्महासत्ता विष्णोस्तद्धर्मधर्मिणी।
तस्याः कोट्यर्बुदांशेन शक्ती द्वे कथिते तब॥
भूतिश्चेति क्रिया चेति भाव्यभावकसंज्ञिते।
वही० १४।६, ७

३—वही, ५।१२

४—वही, ५।१४

५—तत्र ज्ञानबलद्वन्द्वाद्रूपं साङ्कर्षणं हरेः।
ऐश्वर्यवीर्यसंभेदाद्रूपं प्राद्युम्नमुच्यते।
शक्तितेजःसमुत्कर्षादानुरुद्धी तनुर्हरेः॥
वही ५।१७, १८

हैं। छह गुणों से सम्पन्न वासुदेव के रूप होने के कारण इनमें भी षाड्गुण्य की अनुवृत्ति होती है,[1] तथापि दो दो गुणों का ही इनमें प्राधान्य रहता है।

इनमें से प्रत्येक व्यूह आविर्भूत होने के अनन्तर अव्यापृत अवस्था में सोलह सौ वर्षों तक रहता है।[2] तदनन्तर उससे दूसरा व्यूह आविर्भूत होता है। व्यूहों के आविर्भाव के अनन्तर अन्तिम व्यूह अनिरुद्ध सृष्टि में लग जाते हैं।[3] इस प्रकार सृष्टि के प्रवर्तन में ४८०० मानव वर्षों का समय लगता है।[4]

सृष्टि की इच्छा से प्रेरित हो कर वासुदेव स्वयं से स्वयं को विभक्त करते हैं। उसे सङ्कर्षण कहा गया है। इसको एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार उदयाचल पर स्थित होते हुए सूर्य से प्रभा विजृम्भित होती है उसी प्रकार वासुदेव के उदयस्थ अर्थात् सिसृक्षु होने पर सङ्कर्षण नाम की प्रभा प्रस्फुटित हो जाती है। इसके पश्चात् यह स्थिति १६०० मानव वर्षों तक रहती है। इसी प्रकार प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का क्रमशः इतने समय (१६०० वर्षों) के बाद आविर्भाव होता है।[5] इस चातुरात्म्य व्यवस्था का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि यह व्यवस्था मन के आलम्बन के लिए है।[6]

व्यूहान्तरों का आविर्भाव

रहस्याम्नाय अर्थात् एकायन वेद के मर्मज्ञों ने इन चार व्यूहों के सङ्कल्प से

१—वही, ५। १९-२१

२—वही, ५।३१, ३५, ३८, ४०

३—शतानि षोडश स्थित्वाऽनिरुद्धः शक्तिमानसौ।
तदा व्याप्रियते सृष्टौ पूर्वाभ्यां सह नारद॥

वही, ५।४०

4—The evolution of pure creation, upto its end or upto the point when Aniruddha "together with the two earlier (Śaktis, namely those of Saṅkarṣaṇa and Pradyumna) engages in creation" (5—40) takes 3 X 1600=4800 human years.

I.. Pāñ, pp .35, 36

५—वही, ५।२९-४०

६—मन आलम्बनायैषा चातुरात्म्यव्यवस्थितिः।

वही, ५।४४

कल्पित व्यूहान्तर तथा विभव आदि भेदों का वर्णन किया है।[१] केशव आदि व्यूहान्तर द्वादश हैं।[२] द्वादश व्यूहान्तर ये हैं—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेष, पद्मनाभ तथा दामोदर। वासुदेव नामक व्यूह से केशव, नारायण और माधव—इन तीन व्यूहान्तरों का आविर्भाव होता है।[३] सङ्कर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन ये तीन व्यूहान्तर आविर्भूत होते हैं।[४] प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर तथा अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर—इन तीन व्यूहान्तरों का आविर्भाव होता है।[५] अपने कारण में स्थित व्यूहान्तर द्विभुज, सूक्ष्म और पर होते हैं, तीनों लोकों के ईश्वर के रूप में ये स्थूल तथा चतुर्भुज हैं तथा यन्त्र तन्त्र में इनके चक्र आदि आयुधों के विन्यास का वर्णन किया जाता है।[६]

विभवों का आविर्भाव

अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार वासुदेव अथवा उनके चार व्यूहों के ३९ विभवों का आविर्भाव होता है।[७] यह ३९ विभव निम्नलिखित हैं—

१—पद्मनाभ	७—कपिल
२—ध्रुव	८—विश्वरूप
३—अनन्त	९—विहङ्गम
४—शक्त्यात्मा	१०—क्रोडात्मा
५—मधुसूदन	११—बडवावक्त्र
६—विद्याधिदेव	१२—धर्म

१—आम्नासिषुरमुष्याश्च रहस्याम्नायवेदिनः।
व्यूहान्तरविभवादीन् भेदान् सङ्कल्पकल्पितान्॥
वही, ५।४५

२—वही, ५।४६

३—वही

४—वही, ५।४७

५—वही, ५।४७, ४८

६—वही, ५।४८, ४९

७—वही, ५।४५, ५०–५७

१३—वागीश्वर	२७—न्यग्रोधशायी
१४—एकाम्भोधिशायी	२८—एकश्रृङ्गतनु
१५—कमठेश्वर	२९—वामनदेह
१६—वराह	३०—त्रिविक्रम
१७—नरसिंह	३१—नर
१८—पीयूषहरण	३२—नारायण
१९—श्रीपति	३३—हरि
२०—कान्तात्मा	३४—कृष्ण
२१—राहुजित्	३५—परशुराम
२२—कालनेमिघ्न	३६—धनुर्धर राम
२३—पारिजातहर	३७—वेदवित्
२४—लोकनाथ	३८—कल्की
२५—शान्तात्मा	३९—पातालशयन
२६—दत्तात्रेय	

इन विभवों की सङ्ख्या आदि के विषय में पूर्व अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। यही शुद्ध-सृष्टि है।[1]

शुद्धेतर सृष्टि

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि शुद्धेतर सृष्टि दो भागों में विभक्त है—(१) मुख्य-सृष्टि (Primary Creation) तथा (२) गौण-सृष्टि (Secondary Creation)। प्रथम मुख्य सृष्टि पुनः दो भागों में विभक्त है—(१) माध्यमिक-सृष्टि (Intermediate Creation) तथा (२) अपर-मुख्य सृष्टि (Lower Primary Creation)। गौण-सृष्टि (जिसमें हिरण्यगर्भ से होने वाली सृष्टि आती है) अहिर्बुध्न्य-संहिता में निर्दिष्ट अवश्य है, किन्तु उसका वर्णन नहीं है। अतः यहाँ अन्य शुद्धेत्तर-सृष्टियों का वर्णन किया जायगा।

माध्यमिक सृष्टि

विष्णु की शक्ति दो प्रकार की है—(१) क्रिया शक्ति तथा (२) भूति

१—वही, ५।६०

शक्ति ।[1] व्यूह और विभव आदि का आविर्भाव करने वाली शुद्ध-सृष्टि भूति-शक्ति की ही स्फूर्ति है । इसी स्फूर्ति का आश्रय ले कर योगी लोग भव सागर को पार करते हैं ।[2] इन व्यूह विभव आदि से ही शुद्धेतर-सृष्टि भी प्रवर्तित होती है ।[3] यह सृष्टि तीन प्रकार की होती है, यथा—(१) पुरुष, (२) काल तथा (३) गुण ।[4] पुरुष का लक्षण करते हुए बताया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों के स्त्री-पुरुषात्मक युग्मों की समष्टि को पुरुष कहते हैं । प्रद्युम्न के मुख से ब्राह्मण तथा ब्राह्मणी नामक प्रथम मिथुन सङ्कल्प मात्र से उत्पन्न हुआ, हृदय प्रदेश से क्षत्रिय मिथुन, ऊरुस्थल से वैश्य मिथुन, तथा पैरों से शूद्र मिथुन की उत्पत्ति हुई । चार मिथुन स्वरूप वाली मनुष्यों की समष्टि ही पुरुष है ।[5]

प्रद्युम्न के ललाट, भ्रू तथा कर्ण से नियति, काल तथा गुणों की सूक्ष्म अवस्था उत्पन्न होती है ।[6] पुरुष तथा उसके अन्तःस्थ शक्ति की सृष्टि करके प्रद्युम्न इनके संवर्धन का कार्य अनिरुद्ध को सौंप देते हैं और अनिरुद्ध अपने

१—या सा सृष्टिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
लक्ष्मीर्नाम द्विधा सा तु क्रियाभूतिविभेदिनी ।

वही, ८।२९, ३०

२—वही, ६।६, ७

३—अथ शुद्धेतरा सृष्टिस्तन्मूलैव प्रवर्तते ।

वही, ६।७

४—पुरुषश्चैव कालश्च गुणश्चेति त्रिधोच्यते ।

वही, ६।८

५—ब्राह्मणो ब्राह्मणी चैव मिथुनं तन्मनुद्वयम् ।
प्रद्युम्नस्य मुखाज्जातं स्वसङ्कल्पेन चोदितम् ॥
उरसः क्षत्रियद्वन्द्वमूरुतश्च विशोद्वयम् ।
पद्भ्यां शूद्रद्वयं चैव प्रद्युम्नस्य समुद्गतम् ॥
समष्टिर्या मनूनां सा पुरुषो द्विःचतुर्मयः ॥

वही, ६।९—११

६—सूक्ष्मकालगुणावस्था सुदर्शनसमीरिता ।
प्रद्युम्नस्य ललाटाच्च भ्रुवोः कर्णादुदीरिता ॥

वही, ६।१३

तेज रूप योग से उसका संवर्धन करते है ।[1] इसके पश्चात् अनिरुद्ध के सङ्कल्प से उत्पन्न हुई कालमय शरीर वाली शक्ति के दो रूपों में उदित होती है:—(१) नियति, (२) काल । शक्ति का गुणमय रूप सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन रूपों में क्रमशः उदित होता है ।[2] अर्थात् सर्वप्रथम अनिरुद्ध से शक्ति उत्पन्न हुई, शक्ति से नियति, नियति से काल, काल से सत्त्वगुण, सत्त्वगुण से रजोगुण की उत्पत्ति होती है ।[3] इस प्रक्रिया में आठ मनु कलल रूप में वर्तमान रहते हैं ।[4] गुणों की सृष्टि के अनन्तर इनका प्रयोजन सृष्टि हो जाता है और तब इसे अव्यक्त, मूला, प्रकृति, तम, गुणसाम्य, अविद्या, स्वभाव, योनि, अक्षर, अयोनि, गुणयोनि तथा त्रैगुण्य आदि नामों से अभिहित करते हैं ।[5]

अपर–मुख्यसृष्टि

प्रधान या प्रकृति से होने वाली सृष्टि इस कोटि में आती है । इसी को जयाख्य संहिता में प्रधानिक सर्ग कहा गया है । जिस प्रकार दूध, दधि आदि रूपों में तथा मृत्तिका घट आदि रूपों में परिणमित होती है उसी प्रकार प्रकृति भी स्वभाव से परिणामिनी है । पुरुष स्वभाव से अपरिणामी है ।[6] काल इन दोनों तत्त्वों को पकाता है ।[7] यहाँ डॉ० श्रैडर का ध्यान इस ओर जाता है कि संहिता में इसका कोई समाधान नहीं दिया गया है कि काल के द्वारा

१—अन्तःस्थपुरुषां शक्तिं तामादाय स्वमूर्तिगाम् ।
संवर्धयति योगेन ह्यनिरुद्धः स्वतेजसा ॥

वही, ६।१४

२—वही, ६।१५, १६

३—वही, ६।१७, १८

४—वही, ६।४४, ४५

५—गुणसाम्यमविद्या च स्वभावो योनिरक्षरम् ।
अयोनिगुणयोनिश्चेत्याद्यास्त्रैगुण्यवाचकाः ॥

वही, ६।६३

६—वही, ७।५६

७—वही, ७।६

पकाये जाने पर भी पुरुष किस प्रकार अपरिणामी रह सकता है ।[१] प्रकृति, पुरुष, और काल में सम्मिलित प्रयास से अव्यक्त से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है ।[२] महत्तत्व के अन्य अनेक पर्याय संहिता में कहे गये हैं । यथा—विद्या, गौ, अवनी, ब्राह्मी, बधू, वृद्धि, मति, मधु, अख्याति, ईश्वर और प्राज्ञा ।[३] महत्तत्त्व तीन प्रकार का होता है—(१) काल, (२) बुद्धि, (३) प्राण । महत् का तमस् तत्त्व काल के रूप में, सत्त्व तत्त्व बुद्धि के रूप में तथा रजस् तत्त्व प्राण के रूप में प्रकट होता है । काल त्रुटि, लव आदि से युक्त होता है । बुद्धि का स्वभाव अध्यवसाय तथा प्राण का प्रयत्न होता है ।[४] सात्त्विक महत् के चार प्रकार होते हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य । तामस महत् के भी चार प्रकार होते हैं-अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य ।[५] महत् से बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इस सन्दर्भ में कहा गया है कि सङ्कल्प से प्रेरित आठ सर्वज्ञ सर्वदर्शी मनु विद्या अथवा महत्तत्त्व के उदर में गर्भत्व को प्राप्त होते हैं । उस समय उनमें बोधन नाम की वैद्य इन्द्रिय उत्पन्न होती है, जिस इन्द्रिय के द्वारा सत् तथा असत् में विभक्त अर्थों का अध्यवसाय होता है ।[६] इसके पश्चात् महत् तत्त्व के उदर में विष्णु के सङ्कल्प से प्रेरित अहङ्कार उत्पन्न होता है ।[७] अहङ्कार, अभिमान, प्रजापति, अहङ्कृति, अभिमन्ता तथा बोद्धा पर्यायवाचक शब्द हैं ।[८]

1—How, in spite of this, the Puruṣa remains unchanged (*Apariṇāmin*, vii, 6) is not explained. *I. Pāñ.*, p. 69, (F.N.1)

२—अहिर्बु०, ७।७, ८

३—विद्या गौर्यवनी ब्राह्मी बधूर्वृद्धिर्मतिर्मधुः ।
अख्यातिरीश्वरः प्राज्ञेत्येते तद्वाचका मुने ।।

वही, ७।८, ९

डॉ० श्रैडर ने यहाँ उक्त यवनी का अर्थ अवनी किया हैं ।

४—वही, ७।९—११

५—वही, ७।११, १२

६—वही, ७।१३, १४

७—वही, ७।१५

८—अहङ्कारोऽभिमानश्च प्रजापतिरहङ्कृतिः ।
अभिमन्ता च बोद्धा चैतस्याः पर्यायवाचकाः ।।

वही, ७।१६

यह अहङ्कार तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस, तथा तामस। इनको क्रमशः वैकारिक, तैजस, तथा भूतादि भी कहते हैं।[1] वैकारिक अहङ्कार से मन की उत्पत्ति होती है और भूतादि तामस अहङ्कार से शब्द तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इसके बाद वैकारिक अहङ्कार से श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् भूतादि अहङ्कार से स्पर्श तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। स्पर्श तन्मात्र से वायु की उत्पत्ति होती है। वैकारिक अहङ्कार से त्वक् ज्ञानेन्द्रिय तथा पाणि कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से अन्य तन्मात्राएं, महाभूत, ज्ञानेन्द्रियां, और कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।[2] इसी क्रम से मनु भी दस इन्द्रियां प्राप्त करते हैं, और इस प्रकार वह सभी अवयवों से पूर्ण हो जाते हैं।[3] डॉ० श्रैडर ने अहङ्कार से होने वाली सृष्टि को सुविधा के लिए सारणी द्वारा स्पष्ट किया है। वह सारणी यहाँ उसी रूप में प्रस्तुत है—

तन्मात्राएं	भूत	बुद्धीन्द्रियां	कर्मेन्द्रियां
शब्द	आकाश	श्रोत्र	वाक्
स्पर्श	वायु	त्वक्	पाणि
रूप	तेजस्	चक्षु	पाद
रस	अप	रसना	उपस्थ
गन्ध	पृथिवी	घ्राण	वायु

इसके अनन्तर अनिरुद्ध की अध्यक्षता में मनुओं के स्त्रीपुरुषात्मक चार मिथुन उत्पन्न होते हैं। मनु और उनकी स्त्रियों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

१—तस्य वैकारिकं नाम रूपं सात्त्विकमुच्यते।
तैजसं राजसं रूपं भूतादिर्नाम तामसम्।

वही, ७।१७

२—वही, ७।२०—४२

३—एवं सम्पूर्णसर्वाङ्गाः प्राणापानादिसंयुताः।

और शूद्र—ये चार प्रकार के स्त्रीपुरुषात्मक मानव उत्पन्न होते हैं[1] और ये मानव बहुत से अपने मानव पुत्रों को उत्पन्न करते हैं।[2] इस प्रकार सृष्टि का क्रम चलता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार यह क्रम है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की सृष्टि का उल्लेख यहाँ अवश्य है, किन्तु उसका वर्णन नहीं है। इसी को अण्ड-सृष्टि कहते हैं। यही प्रस्तुत संहिता का सृष्टि-क्रिया वर्णन है।[3]

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार सृष्टिप्रक्रिया-विवेचन

लक्ष्मीतन्त्र में सृष्टि क्रिया का विवेचन अधिक विस्तृत होते हुए भी सुलझा हुआ है। तात्पर्य यह है कि विषयों का वर्गीकरण अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की है[4]—

१—शुद्ध-सृष्टि
२—अशुद्ध-सृष्टि

अशुद्ध सृष्टि तीन पर्वों में विभक्त है—प्रथम पर्व, द्वितीय पर्व तथा तृतीय पर्व।[5]

सर्वेन्द्रिययुतास्तत्र देहिनो मनवो मुने ॥
वही, ७।४३

१—ततो ह्यध्यक्षवन्तस्ते तत्सङ्कल्पेन चोदिताः ।
गर्भानादधते स्त्रीषु मनवस्ते शतं शतम् ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधाः ।
मानवाः मनुयोषिद्भ्यो जायन्ते द्वन्द्वलक्षणाः ॥
वही, ७।५८–५०

२—मनुभिः संस्कृतास्ते तु स्वासु पत्नीषु मानवा ।
जनयन्ति बहून्पूत्रांस्ते स्युर्मानवमानवाः ।
वही, ७।५०, ५१

३—सङ्कर्षणादिव्यूहान्ता शुद्धसर्गमयी स्थिता ।
शक्त्यादिर्भूमिपर्यन्ता शुद्धेतरमयी मुने ॥
वही, ७।६९

४—शुद्धाशुद्धात्मको वर्गस् .... ।
शुद्धो वर्गस्तथाशुद्धो द्विविधं सृज्यमुच्यते ।
ल०तं, २।३७, ३२।१४

५—वही, ५।१५, १८

शुद्ध सृष्टि

जहाँ तक शुद्ध सृष्टि का प्रश्न है, अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित शुद्ध सृष्टि तथा लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित शुद्ध सृष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थलों पर शुद्ध सृष्टि का अर्थ है—तीनों गुणों से रहित शुद्ध सत्त्वमयी सृष्टि। यद्यपि जयाख्य-संहिता में वर्णित शुद्ध सर्ग इन दोनों लक्ष्मीतन्त्र और अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित शुद्ध सृष्टि से कुछ भिन्न है तथापि ये सभी ग्रन्थ त्रैगुण्यराहित्य को शुद्ध सृष्टि का आवश्यक लक्षण मानते हैं।

लक्ष्मीतन्त्र में शुद्ध सृष्टि का वर्णन इस प्रकार किया गया है—सृष्टि के पूर्व परं ब्रह्म या पर वासुदेव पूर्णरूपेण शान्त, निर्विकार, देश काल आदि परिच्छेदों से रहित तथा सर्वव्यापी रहता है। उस समय वह तरङ्ग रहित समुद्र के समान, षाड्गुण्य से पूर्ण रहता है।[1] यह ब्रह्म का अमूर्त रूप कहा जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा का उसकी ज्योत्स्ना के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उसी प्रकार पर वासुदेव का उसकी शक्ति लक्ष्मी के साथ अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध है।[2] अमूर्त ब्रह्म 'सर्वतः शान्त' आदि विशेषणों से युक्त लक्ष्मी से विशिष्ट रहता है। यह ब्रह्म का अमूर्त स्वरूप है जो सृष्टि के पूर्व में रहता है। चन्द्रमा के उदय होने के समय जिस प्रकार समुद्र में उन्मेष होता है, उसी प्रकार जो ब्रह्म का उन्मेष होता है, उसे सिसृक्षा शक्ति कहते हैं।[3] इसके अनन्तर शुद्ध सृष्टि प्रवृत्त होती है।[4]

१—सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः।
अनन्तदेशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः॥
महाविभूतिरित्युक्तः व्याप्तिः सा महती यतः।
तद् ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम्॥
निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम्।

वही, २।८—१०

२—वही, २।११

३—उन्मेषस्तस्य यो नाम यथा चन्द्रोदयेऽम्बुधौ।
अहं नारायणी शक्तिः सिसृक्षालक्षणा तदा॥

वही, २।२१, ,२२, ४।४, ५

४—अभेद्याकाशसङ्काशान्निष्पन्दोदधिरूपतः।

चातुरात्म्य सृष्टि

पर वासुदेव के शुद्ध सृष्टि के लिए प्रवृत्त होने पर उसके चार रूपों का आविर्भाव होता है, जिसे चातूरूप्य या चातुरात्म्य कहते हैं। पर, व्यूह, विभव और अर्चा ये पर ब्रह्म के चार रूप हैं। कतिपय पाञ्चरात्र संहिताओं में अन्तर्यामि रूप को स्वीकार करके पाँच रूप माने गये हैं। इन चारों रूपों में षाड्गुण्य-क्रम कहीं अभिव्यक्त होता है और कहीं अनभिव्यक्त।[1] इस चातूरूप्य की सृष्टि अथवा आविर्भाव को ही शुद्ध सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि में सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों का सर्वथा राहित्य होता है। इस कारण यह शुद्ध सृष्टि है। लक्ष्मीतन्त्र में इन चार रूपों के अविर्भाव का वर्णन विस्तार से किया गया है।

चातुर्व्यूह-सृष्टि

पर वासुदेव (जिसमें षाड्गुण्य शान्तावस्था में रहता है) से वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चार व्यूह आविर्भूत होते हैं। पर वासुदेव में सृष्टि के लिए प्रथम उन्मेष होने पर व्यूह वासुदेव का आविर्भाव होता है। यद्यपि व्यूह वासुदेव पर वासुदेव की भांति षाड्गुण्य पूर्ण होता है तथापि व्यूह-वासुदेव में षाड्गुण्य नित्योदित अवस्था में रहता है।[2] इसके बाद इन छह गुणों में से दो गुणों—ज्ञान और बल—का उन्मेष होने पर सङ्कर्षण नामक द्वितीय ब्यूह का आविर्भाव होता है। सङ्कर्षण को बल या बलदेव भी कहते हैं, क्योंकि वह सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार धारण करते हैं जिस प्रकार प्राणी काले रङ्ग के तिल को अपने शरीर में धारण करते हैं।[3] इसके वीर्य और ऐश्वर्य, इन दो गुणों के

मम ज्ञानघनाद्रूपाच्छुद्धा सृष्टिः प्रवर्तते ॥

वही, ४।७

१—तत्र शुद्धमयं मार्गं व्याख्यास्यामि सुरेश्वर ।
अभिव्यक्तानभिव्यक्तषाड्गुण्यक्रममुज्ज्वलम् ।
आलम्बितचतूरूपं रूपं तत्पारमेश्वम् ॥

वही, २।३७, ३८

२—वही, ४।१३

३—वही, ४।१४, १५, २।४५

उन्मेष से प्रद्युम्न नामक व्यूह का आविर्भाव होता है।[1] शेष शक्ति और तेज नामक गुणों का उन्मेष होने पर अन्तिम व्यूह का आविर्भाव होता है।[2] सृष्टि, स्थिति और संहार में सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का प्रायः वही स्थान हो जाता है जो अन्यत्र त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश का है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्य अवस्थाओं को भी चातुर्व्यूह में देखा जाता है। जाग्रदवस्था के अधिष्ठातृ देवता हैं अनिरुद्ध, स्वप्न के प्रद्युम्न, सुषुप्ति के सङ्कर्षण तथा तुर्यावस्था के वासुदेव।[3] इस प्रकार तत्तद् गुणों के उन्मेष के अनुसार चातुर्व्यूह का आविर्भाव होता है।

व्यूहों की शक्तियाँ

अहिर्बुध्न्यसंहिता में शक्तियों का उल्लेख अवश्य है किन्तु नामतः निर्देश नहीं है। लक्ष्मीतन्त्र में इन चारों व्यूहों की शक्तियों का नामतः निर्देश किया गया है। वासुदेव की शक्ति लक्ष्मी, सङ्कर्षण की कीर्ति, प्रद्युम्न की जया तथा अनिरुद्ध की शक्ति माया है।[4] अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध होने के कारण व्यूहों के साथ ही इन शक्तियों का आविर्भाव होता है।

व्यूहान्तर

उक्त चारों व्यूह अपने अपने शरीरों को तीन तीन स्वरूपों में विभाजित करते हैं। इस प्रकार जिन बारह देवों का आविर्भाव होता है उसे व्यूहान्तर कहते हैं।[5] अर्थात् व्यूहस्थ वासुदेव से केशव, नारायण और माधव;

१—वही, ४।१६

२—सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्युम्नः पाति तत्कृतम्।
सृष्टं तद्रक्षितं चात्ति स च सङ्कर्षणः प्रभुः॥
वही, ४।१९

३—वही, २।४९, ५८

४—लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया व्यूहशक्तय ईरिताः।
वही, २०।३४

५—वासुदेवादयो देवाः प्रत्येकं तु त्रिधा त्रिधा।
केशवादिस्वरूपेण विभजन्ति स्वकं वपुः॥
एतद्व्यूहान्तरं नाम पञ्चरात्राभिशब्दितम्॥
वही, ४।२७, २८

सङ्कर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन; प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर; तथा अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर नामक व्यूहान्तरों का आविर्भाव होता है। श्री, वागीश्वरी, कान्ति, क्रिया, शान्ति, विभूति, इच्छा, प्रीति, रति, माया, धी तथा महिमा—ये बारह व्यूहान्तरों की शक्तियाँ हैं।[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता तथा लक्ष्मीतन्त्र में व्यूहान्तर के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखायी देता। लक्ष्मीतन्त्र में इनका वर्णन उक्त संहिता की अपेक्षा विस्तृत है।

विभव

अनिरुद्ध से जगत् के हित के लिए पद्मनाभ आदि ३८ विभवों का आविर्भाव होता है। इसी को अवतार या विभव कहते हैं। सङ्ख्या के अन्तर के अतिरिक्त इस विषय में अहिर्बुध्न्यसंहिता के साथ प्रायः साम्य ही है। एक और विशेष अन्तर है—अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार विभवों का आविर्भाव व्यूहों से हुआ है,[2] जब कि लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार विभवों का आविर्भाव अनिरुद्ध से होता है। ये दोनों ग्रन्थ सात्त्वतसंहिता को ही इस वर्णन का आधार मानते हैं,[3] अतः किसी प्रकार का अन्तर युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। इन विभवों से अनेक विभवान्तर आविर्भूत होते हैं।

अर्चा

उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त ईश्वर एक अन्य रूप धारण करता है जिसे अर्चा अवतार कहते हैं। यह ईश्वर का वही रूप है जो देवालय आदि स्थानों

१—वही, २०।३५, ३६

२—आम्नासिषुरमुख्याश्च रहस्याऽऽम्नायवेदिनः।
व्यूहान्तरविभवादीन् भेदान् सङ्कल्पकल्पितान्॥
अहिर्बु०, ५।४५

३—दोनों ग्रन्थ सात्त्वतसंहिता को इन शब्दों में उदाहृत करते हैं—
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्त्वते।
रूपाण्यस्त्राणि चैतेषां शक्तयश्चापरा विधाः।
सर्वं तत्सात्त्वते सिद्धं संज्ञामात्रं प्रदर्शितम्॥
ल०तं०, २।५९, ११।२८

पर प्रतिमा के रूप में विद्यमान होता है। यह अर्चा रूप भी षाड्गुण्य सम्पन्न तथा शुद्ध चिन्मय होता है।[1]

यही शुद्ध-सृष्टि है। ईश्वर का पर, व्यूह, व्यूहान्तर, विभव, विभवान्तर तथा अर्चा रूप में अवस्थित होना ही शुद्ध-सृष्टि है।

अशुद्ध-सृष्टि

अशुद्धसृष्टि तीन पर्वों में पूर्ण होती है जिन्हें क्रमशः प्रथम अथवा आद्य पर्व और द्वितीय अथवा अन्तिम पर्व कहा गया है। ये तीनों पर्व सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों से पूर्ण हैं, अत एव इस सृष्टि को अशुद्ध-सृष्टि कहा गया है।

प्रथम पर्व

जिस सिसृक्षा शक्ति से शुद्ध-सृष्टि का आविर्भाव होता है, उसी से अशुद्ध-सृष्टि का भी आविर्भाव होता है। शुद्ध-सृष्टि के लिए एक उन्मेष का उल्लेख किया जा चुका है, दूसरा उन्मेष अशुद्ध-सृष्टि के लिए होता है।[2] ज्ञान, ऐश्वर्य, तथा शक्ति नामक गुणों से सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्वच्छ इक्षु का रस गुड़ के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार स्वच्छ ज्ञान सत्त्व गुण के रूप में, और ऐश्वर्य रजोगुण के रूप में परिणत हो जाता है। इन्हीं गुणों को त्रैगुण्य कहा गया है।[3] इस प्रकार तीन ईश्वरीय गुणों ने त्रैगुण्य का रूप धारण किया। सृष्टि में

यतश्चैषां समुत्पत्तिर्यो व्यापारो यदायुधम्।
... ...
सात्त्वते शासने सर्वं तत्तदुक्तं महामुने ॥
अहिर्बु०, ५।५७—५९

१—ल०तं०, २।६०, ४।६१
२—वही, ३।४
३—यथैवेक्षुरसः स्वच्छो गुडत्वं प्रतिपद्यते।
तद्वत्स्वच्छमयं ज्ञानं सत्त्वतां प्रतिपद्यते ॥
रजस्त्वं च ममैश्वर्यं तमस्त्वं शक्तिरप्युत।
एते त्रयो गुणाः शक्र त्रैगुण्यमिति शब्द्यते ॥
वही, ३।५–७, ५।३३

त्रैगुण्य रजोगुण प्रधान होता है, स्थिति में सत्त्वगुण प्रधान तथा संहृति में तमोगुण प्रधान होता है।[१] लक्ष्मी से ही रजोगुण प्रधान महालक्ष्मी का आविर्भाव होता है जो जगत् की सृष्टि करती है।[२] इस त्रैगुण्यमयी[३] महालक्ष्मी को अन्य कई नामों से अभिहित किया जाता है, यथा — महाश्री, चण्डा, चण्डिका, भद्रकाली, भद्रा, काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवत्पत्नी तथा भगवती आदि।[४] लक्ष्मी से ही तमोगुण प्रधान महामाया आविर्भुत होती है जिसका उद्देश्य संहृति है।[५] महामाया को महाकाली, महामारी, क्षुधा, तृषा, निद्रा, कृष्णा, एकवीरा तथा कालरात्रि नामों से अभिहित किया जाता है।[६]

सक्ष्मी ने इस सृष्टि को भी पर्याप्त नहीं समझा, अतः उन्होंने सत्त्वगुण प्रधान रूप धारण किया। लक्ष्मी के इस रूप को महाविद्या कहा गया है। इसके अतिरिक्त महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी महाधेनु, वेदगर्भा, धी और गी इनके नाम के अन्य पर्याय हैं।[७] इसका मुख्य कृत्य है सृष्टि का पालन करना।

इसके पश्चात् महालक्ष्मी में प्रद्युम्न के अंश से मानस धाता तथा श्री की उत्पत्ति हुई। सङ्कर्षण के अंश से महामाया में मानस रुद्र तथा त्रयी की उत्पत्ति हुई तथा अनिरुद्ध के अंश से महाविद्या से विष्णु तआ गौरी की उत्पत्ति हुई।[८]

१—वही, ३।७, ८

२—वही, ४।३६

३—वही, ४।३६

४—वही, ४।३९—४१

५—वही, ४।५७

६—महाकाली महामाया महामारी क्षुधा तृषा।
निद्रा कृष्णा चैकवीरा कालरात्रिर्दुरत्यया॥

वही, ४।६२

७—अपर्याप्तमिदं सर्गं मन्यमानाहमादिमम्।
सत्त्वोन्मेषमयं रूपं भरामि स्मेन्दुसन्निभम्॥
महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती।
आर्या ब्राह्मी महाधेनुर्वेदगर्भा च धीश्च गीः॥

वही, ४।६४, ६६

८—वही, ५।७-१३

इनमें धाता की त्रयी के साथ, रुद्र की गौरी के साथ तथा विष्णु की श्री के साथ दाम्पत्य रचना हुई।[1]

यह प्रथम पर्व है। सङ्क्षेप में इस पर्व की सृष्टि को इस प्रकार कहा जा सकता है—षाड्गुण्य में से ज्ञान सत्त्वगुण के रूप में, ऐश्वर्य रजोगुण के रूप में तथा शक्ति तमोगुण के रूप में परिणमित हो कर त्रैगुण्य-शरीर धारण करती है। इसके अनन्तर लक्ष्मी से रजोगुण प्रधान महालक्ष्मी, तमोगुण प्रधान महामाया तथा सत्त्वगुण प्रधान महाविद्या का आविर्भाव होता है। प्रद्युम्न के अंश से महालक्ष्मी में मानस धाता तथा श्री, सङ्कर्षण के अंश से महामाया में रुद्र तथा त्रयी, अनिरुद्ध के अंश से महाविद्या में विष्णु तथा गौरी आविर्भुत हुए। इनमें राजस ब्रह्मा की तामस त्रयी के साथ, तामस रुद्र की सत्त्विक गौरी के साथ, तथा सात्त्विक विष्णु की राजस श्री के साथ दाम्पत्य-कल्पनाएं हुईं।

द्वितीय पर्व

इस पर्व में उपर्युक्त दम्पतियों के कार्यों का वर्णन है। ब्रह्मा ने त्रयी के साथ मिल कर अण्ड की सृष्टि की। रुद्र ने गौरी के साथ मिल कर इस अण्ड का भेदन किया। श्री के साथ मिल कर विष्णु ने अण्ड के मध्य में स्थित प्रधान की रक्षा की। यह प्रधान ब्रह्मा का कार्य था।[2] इस प्रकार पर्व की सृष्टि का मुख्य प्रयोजन है प्रधान अथवा प्रकृति की सृष्टि।

तृतीय पर्व

द्वितीय पर्व में जिस प्रधान की सृष्टि हुई थी उसे त्रैगुण्य, प्रकृति आदि

१—ब्रह्मणस्तु त्रयी पत्नी सा बभूव ममाज्ञया।
रुद्रस्य दयिता गौरी वासुदेवस्य चाम्बुजा॥

वही, ५।१३, १४

२—भाषया सह संभूय विरिञ्चोऽण्डमजीजनत्।
मदाज्ञया विभेदैतत्स गौर्य्या सह शङ्करः॥
अण्डमध्ये प्रधानं यत्कार्यमासीत्तु वेधसः।
तदेतत्पालयामास पद्मया सह केशवः॥
तदेतन्मध्यमं पर्व गुणानां परिकीर्तितम्।

वही, ५।१६—१८

अनेक नामों से अभिहित किया जाता है।[1] प्रधान को सलिल बना कर, विष्णु ने श्री के साथ योगनिद्रा का आश्रय ले कर जल में सोना आरम्भ किया।[2] इसके बाद सोते हुए विष्णु की नाभि से कालमय पद्म उत्पन्न हुआ।[3] यहाँ एक बहुत ही स्वाभाविक प्रश्न उठाया गया है कि तत्त्व दो प्रकार के कहे गये हैं—चित् और अचित्। चेतन को चित् कहा गया है तथा त्रैगुण्य अथवा प्रकृति को अचित्। यह काल नामक कौन सा तत्त्व है।[4] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि इन दोनों में बहुत अन्तर है। पूर्वोक्त षाड्गुण्य में से ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति सत्त्व, रजस् तथा तमस् के रूप में परिणमित होकर त्रैगुण्य का रूप धारण करते हैं। इसी षाड्गुण्य में से बल, ऐश्वर्य तथा वीर्य ये तीन गुण काल के रूप में परिणमित हो जाते हैं। यह काल अपरिणामी है तथा त्रैगुण्य परिणामी है।[5] इस प्रकार अचित् तत्त्व के दो भेद हैं—काल तथा काल्य।[6] काल्य का अर्थ त्रैगुण्य अथवा प्रकृति है।[7] सृष्टि के समय काल ईश्वर

१—वही, ५।१९

२—वही, ५।२०, २१

३—शयानस्य तदा पद्ममभून्नाभ्यां पुरन्दर।
तत्कालमयमाख्यातं पङ्कजं यदपङ्कजम्॥
वही, ५।२२

४—चिदचित्तत्त्वमाख्यातं चेतनश्चित्प्रकीर्तितः।
अचित् त्रैगुण्यमित्युक्तं कीदृक् कालोऽपरः स्मृतः॥
वही, ५।२४

५—अचिदंशोऽपरः कालस्त्रैगुण्यमपरं स्मृतम्।
बलादिकं तु यत्पूर्वं षाड्गुण्ये त्रिकमीरितम्॥
तदेतत्कालरूपेण सृष्टौ सम्परिवर्तते।
स्वतश्चापरिणामीदं त्रैगुण्यं परिणामि तत्॥
वही, ५।२५, २६

६—कालकाल्यात्मकं द्वन्द्वमचिदेतत्प्रकीर्तितम्।
वही, ५।२७

७—तत्र काल्यात्मिका शक्तिर्मोहिनी बन्धनी तथा।
प्रकृतिः सविकारैषा . . . . . . ॥
वही, १२।७

के लिए करण के रूप में रहता है।[1] निम्न सारणी द्वारा काल की स्थिति स्पष्ट हो जाती है:[2]—
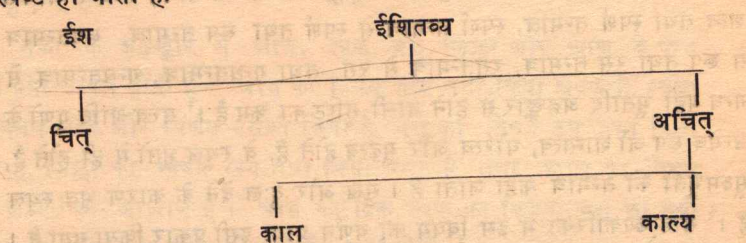
विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में ब्रह्मा पुनः त्रयी के साथ प्रादुर्भूत हुए। कमल तथा कमल से उत्पन्न द्वन्द्व अर्थात् हिरण्यगर्भ और त्रयी, इन तीनों को तामस महान् कहा गया है।[3] महान् के तीन भेद हैं — (१) प्राण, (२) हिरण्यगर्भ, तथा (३) बुद्धि।[4] प्राण का गुण है स्पन्द, बुद्धि का अध्यवसाय तथा पुरुष के धर्म और अधर्म।[5] ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य को धर्म कहते हैं तथा अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य को अधर्म।[6]

सृष्टि के लिए प्रेरित किये जाने पर उक्त महान् से अहङ्कार की उत्पत्ति हुई।[7] अहङ्कार के तीन भेद हुए—तामस, सात्त्विक और राजस।[8] तामस

१—कालोऽयं करणत्वेन वर्तते मन्मयः सदा ।

वही, ५।२८

२—वही, १२।५—७

३—पद्मं पद्मोद्भवद्वन्द्वं तदेतत् त्रितयं सह ।
महांस्तामस आख्यातो विकारः पूर्वकैर्बुधैः ॥

वही, ५।३१

४—प्राणो हिरण्यगर्भश्च बुद्धिश्चेति त्रिधा भिदा ।
पद्मपुंस्त्रीसमालम्बान्महत्त्वं तस्य शब्द्यते ।

वही, ५।३२

५—वही, ५।३३
६—वही, ५।३४
७—महान्तमाविशन्त्येनं प्रेरयामि स्वसृष्टये ।
प्रेर्यमाणात्ततस्तस्मादहङ्कारश्च जज्ञिवान् ॥

वही, ५।३५

८—आविश्यामुमहङ्कारं सृष्टये प्रेरयाम्यहम् ।

अहङ्कार को भूतादि, सात्त्विक अहङ्कार को वैकारिक तथा राजस अहङ्कार को तैजस भी कहा जाता है। भूतादि अहङ्कार से शब्दतन्मात्र, शब्द तन्मात्र से शब्द तथा स्पर्श तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र से स्पर्श तथा रूप तन्मात्र, रूपतन्मात्र से रूप तथा रस तन्मात्र, रसतन्मात्र से रस तथा गन्धतन्मात्र, गन्धतन्मात्र से गन्ध यही भूतादि अहङ्कार से होने वाली सृष्टि का क्रम है।[1] सत्त्व आदि गुणों के उन्मेष रूप जो शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व होते हैं, वे स्थूल भूतों में ही होते हैं, सूक्ष्मभूतों को तन्मात्र कहा जाता है। सुख और दुःख देने के कारण भूत स्थूल हैं।[2] साङ्ख्यकारिका में इस विषय का वर्णन प्रायः इसी प्रकार किया गया है। यथा--तन्मात्र सूक्ष्म विषय हैं। इन पाँच तन्मात्राओं से पांच भूत उपन्न होते हैं। इन्हें विशेष अर्थात् स्थूल कहा गया है, क्योंकि ये शान्त, घोर तथा मूढ़ अर्थात् सुख, दुःख और मोह स्वरूप हैं।[3] इसके अनन्तर स्थूल अथवा विशेष के अवान्तर भेद करते हुए कहा गया है कि ये विषय तीन प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म, पितृज तथा प्रभूत।[4] सूक्ष्म शरीर पञ्चभूतों को कहा गया है। शुक्र तथा शोणित

स बभूव त्रिधा पूर्वं गुणव्यतिकरात्तदा ॥

वही, ५।३७

१—भूतादेः शब्दतन्मात्रं तन्मात्राच्छब्दसम्भवः ।
मत्प्रेरिताच्छब्दमात्रात्स्पर्शमात्रं बभूव ह ॥
स्पर्शस्तु स्पर्शतन्मात्रातन्मात्रात्प्रेरितान्मया ।
तदासीद्रूपतन्मात्रं तस्माच्च प्रेरितान्मया ॥
रूपमाविर्बभूवाद्यं रसमात्रं ततः परम् ॥
रसमात्रान्मयाक्षिप्तात्तस्माज्जज्ञे रसस्ततः ।
गन्धतन्मात्रमप्यासीत्तस्माच्च प्रेरितान्मया ॥
शुद्धो गन्धः समुद्भूत इतीयं भौतिकी भिदा ।

वही, ५।३८–४२

२—वही, ५।४४, ४५

३—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृताः विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढाश्च ॥

सां०का०, ३८

४—स्थूलानामेव भूतानां त्रिधावस्था प्रकीर्तिता ।
सूक्ष्माश्च पितृजाश्चैव प्रभूता इति भेदतः ।

ल०तं०, ५।४३, द्रष्टव्य—सा०का० ३९

से उत्पन्न शरीर को पितृज तथा घटादि विविध बाह्य शरीरों को प्रभूत कहा गया है ।

वैकारिक अहङ्कार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।[१] श्रोत्र का विषय शब्द तथा क्रिया श्रवण है, त्वचा का विषय स्पर्श और स्पर्शन उसकी क्रिया है, चक्षु का विषय रूप तथा क्रिया दर्शन है, जिह्वा का विषय रस्य तथा क्रिया रसन है तथा घ्राण का विषय गन्ध और क्रिया आघ्राण है।[२] श्रोत्र का दिक्, त्वक् का विद्युत्, चक्षु का सूर्य, जिह्वा का सोम तथा घ्राण की अधिदैव वसुमती है।[३]

तैजस अहङ्कार से पांच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ तथा पायु।[४] वाक् का विषय शब्द तथा क्रिया वचन है, हस्त का विषय आदेय तथा क्रिया आदान है, पाद का विषय गन्तव्य तथा क्रिया गमन है, उपस्थ का विषय आनन्द्य तथा क्रिया आनन्द है तथा पायु का विषय विसृज्य और क्रिया विसर्ग है।[५] अग्नि, इन्द्र, विष्णु, प्रजापति, मित्र इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः अधिदैवत हैं।[६] वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के पाँचों विषयों को अधिभूत कहा गया है।[७] मन, कर्म तथा बुद्धि दोनों प्रकार की इन्द्रिय हैं।[८] लक्ष्मी की ज्ञानशक्ति तथा क्रिया शक्ति क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कर्तव्यों में प्रवृत्त होती है।[९] मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विकल्प

१—वही, ५।५०, ५२

२—वही, ४।५६—५८

३—दिक् च विद्युत्तथा सूर्यः सोमो वसुमती तथा ।
अधिदैवतमिति प्रोक्तं क्रमाच्छ्रोत्रादिपञ्चके ॥

वही, ५।५९, ६०

४—वही, ५।५१, ४३

५—वही, ५।६३—६५

६—अग्निरिन्द्रश्च विष्णुश्च तथैवाद्यः प्रजापतिः ।
मित्रश्चेति क्रमाज्ज्ञेया अधिदेवा विचक्षणैः ॥

वही, ५।६५,६६

७—वही, ५।६६, ६७

८—वही, ५।५१

९—या सा विज्ञानशक्तिर्मे पारम्पर्यक्रमागता ।
बुद्धीन्द्रियाण्यधिष्ठाय विषयेषु प्रवर्तसे ॥

करता है। विकल्प को विशेषण भी कहा गया है। धर्म का धर्मी के साथ जो सम्बन्ध है उसे विकल्प कहते हैं।[१] विकल्प पांच प्रकार का होता है—द्रव्य, कर्म, गुण, सामान्य तथा शब्द।[२]

कर्मेन्द्रियों के द्वारा मन सङ्कल्प करता है।[३] सङ्कल्प मन का लक्षण और व्यापार है। ज्ञानेन्द्रियों में अहङ्कार अभिमान के रूप में रहता है। ज्ञाता का देश और काल के साथ जो अन्वय होता है उसी को अभिमान कहते हैं। इसका एक उदाहरण देते हुए कहा गया है कि आज मेरे समक्ष वस्तु भासित हो रही, यह अभिमान का उदाहरण है।[४] यहाँ आज (अद्य) कालवाची तथा समक्ष (पुरतः) देशवाची है। इन दोनों से मम (ज्ञाता) का जो अन्वय है उसी को अभिमान कहते हैं। कर्मेन्द्रियों में यह अहङ्कार, संरम्भ के रूप में कहा गया है। यह संरम्भ सङ्कल्प का पूर्वरूप है।[५] इस प्रकार अहङ्कार का लक्षण तथा व्यापार है—अभिमान तथा संरम्भ।

बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय गण में अध्यवसाय के रूप में स्थित रहती है। अध्यवसाय या अर्थावधारण को बुद्धि कहा गया है और अर्थों के अवधारण को ही निश्चय कहा गया है।[६] कर्मेन्द्रियगण में बुद्धि प्रयत्न के रूप में प्रवृत्त होती है।[७]

क्रियाशक्तिश्च या सा मे पारम्पर्यक्रमागता।
कर्मेन्द्रियाण्यधिष्ठाय कर्तव्येषु प्रवर्तते ॥

वही, ५।५४, ५५

१—वही, ५।६८,६९

२—विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः।
दण्डीति द्रव्यसंयोगाच्छुक्लो गुणसमन्वयात्।
गच्छतीति क्रियायोगात्पुमान् सामान्यसंस्थितेः ॥
डित्थः शब्दसमायोगादितीयं पञ्चस्थितिः।

वही, ५।६९—७१

३—वही, ५।७१

४—देशकालान्वयो ज्ञातुरभिमानः प्रकीर्तितः।
ममाद्य पुरतो भातीत्येवं वस्तु प्रतीयते ॥

वही, ५।७३, ७४

५—वही, ५।७४, ७५

६—वही, ५।७५, ७६

७—वही, ५।७६

संक्षेप में इस का अभिप्राय यह है कि बुद्धि, अहङ्कार तथा मन ये तीन अन्तःकरण हैं। इनमें से बुद्धि जब ज्ञानेन्द्रिय गण में स्थित होती है तब इसका लक्षण तथा व्यापार अध्यवसाय या निश्चय होता है तथा कर्मेन्द्रियगण में स्थित होने पर इसका लक्षण और व्यापार प्रयत्न होता है। अहङ्कार जब ज्ञानेन्द्रिय गण में स्थित होता है तब इसका लक्षण और व्यापार अभिमान तथा कर्मेन्द्रियगण में स्थित होने पर संरम्भ होता है। मन के ज्ञानेन्द्रियगण में स्थित होने पर विकल्प तथा कर्मेन्द्रियगण में स्थित होने पर सङ्कल्प इसका लक्षण तथा व्यापार होता है। यद्यपि अन्तःकरणत्रय की चर्चा साङ्ख्य में भी है तथापि उनके लक्षण और व्यापारों का यह विभाजन लक्ष्मीतन्त्र की विशेषता है। निम्न सारिणी से यह स्पष्ट हो जायगा:—

अन्तःकरण	ज्ञानेन्द्रियगण	कर्मेन्द्रियगण
१— बुद्धि	अध्यवसाय	प्रयत्न
२— अहङ्कार	अभिमान	संरम्भ
३— मन	विकल्प	सङ्कल्प

इस प्रकार तेइस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। महान् से लेकर गन्धपर्यन्त तेइस तत्त्व अण्ड को उत्पन्न करते हैं।[1] इस अण्ड से प्रजापति की उत्पत्ति हुई, प्रजापति से मनु उत्पन्न हुए, मनु से मरीचि प्रमुख मानव उत्पन्न हुए और उनसे चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई।[2] यह सृष्टि का तृतीय पर्व है।

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार यह सृष्टि की प्रक्रिया है।

१—अन्योन्यानुग्रहेणैते त्रयोविंशतिरुत्थिता।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥

वही, ५।८१, ८२

२—वही, ५।८२, ८३

चतुर्थ अध्याय

जीव-तत्त्व

जीव का स्वरूप

तत्त्व दो प्रकार के होते हैं—चित्तत्व और अचित्तत्व। जीव और ईश्वर चित्तत्व के दो भेद हैं। जीव क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि लक्ष्मी की चार दशाएँ होती हैं—(१) प्रमाता (२) अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहङ्कार), बहिःकरण (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियगण) और (४) भावभूमिका (प्रमेयवर्ग)। प्रथम दशा प्रमाता चेतन या जीव है।[1] इसे लक्ष्मी

१—तस्याः स्मृताश्चतस्रो मे दशास्त्रिदशपुङ्गव ॥
प्रमातेति विधा त्वेका तदन्तःकरणं परा।
बहिःकरणमन्या च चतुर्थी भावभूमिका ॥

ल०तं०, ६।३४, ३५

का सङ्कोच अथवा लक्ष्मी का रूप कहा गया है।[1] जीव को चिच्छक्ति भी कहा गया है।[2]

जहां तक जीव के स्वरूप का प्रश्न है, वह शुद्ध, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप है। यथा—

चिच्छक्तिर्विमला शुद्धा चिन्मय्यानन्दरूपिणी[3]।

जीव से सम्बद्ध कुछ विशेष सिद्धान्तों का उल्लेख लक्ष्मीतन्त्र में है जिन्हें हम निम्न शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) नित्यत्व
(२) सर्वज्ञत्व
(३) सर्वकर्तृत्व
(४) अनणुत्व
(५) आनन्त्य,
(६) समत्व आदि

नित्यत्व

सभी वैदिक दर्शनों में जीव को नित्य माना गया है। जो दर्शन जीव को नित्य नहीं मानते वे इसी कारण अवैदिक दर्शन कहे जाते हैं। वैदिक

१—जीव लक्ष्मी का सङ्कोच है—

प्रमाता चेतनः प्रोक्तो मत्सङ्कोचः स उच्यते।
अहं हि देशकालाद्यैरपरिच्छेदमीयुषी॥
स्वातन्त्र्यादेव सङ्कोचं भजाम्यजहती स्वताम्।
प्रथमस्तत्र सङ्कोचः प्रमातेति प्रकीर्त्यते॥

वही, ६।३६, ३७

जीव लक्ष्मी का रूप है—

विभक्तेऽपि ते एते शक्ती चिदचिदात्मिके।
मत्स्वाच्छन्द्यवशेनैव मम रूपे सनातने॥

वही, ३।७५

२—चिच्छक्तिर्जीव इत्येवं विबुधैः परिकीर्त्यते।

तथा

जीवश्चिच्छक्तिसंज्ञितः।

वही, १२।१८, १४।५७

३—वही, ३।२६

दर्शनों की प्रतिनिधि गीता में जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है —

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।[१]

पाञ्चरात्र आगमों में भी जीव को नित्यत्व स्वीकार किया गया है। इन आगमों के अनुसार जीव उतना ही नित्य या सनातन है, जितना कि स्वयं ब्रह्म। लक्ष्मीतन्त्र में जीव का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है।[२] व्यवहार में जीव के देह-सम्बन्ध को जन्म तथा उस प्रकार के सम्बन्ध के नष्ट होने को मृत्यु कहा जाता है। अन्यथा जन्म अथवा मृत्यु का जीव के साथ वस्तुतः किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र आगमों के इस पक्ष को भी लेकर उन्हें अवैदिक तथा अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार वासुदेव संज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानने पर जीव में अनित्यत्व आदि दोष आ जाँयेगे। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में जीव के नित्यत्व की स्थापना की है,[३] इस विषय का विवेचन प्रथम अध्याय में पाञ्चरात्र प्रामाण्य के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में सर्वत्र जीव को नित्य ही कहा गया है। जब अभिधा से जीव का नित्यत्व सिद्ध होता है तो लक्षणा आदि की न तो आवश्यकता ही हैं और न प्रामाणिकता ही ।

१—भ०गी०, २।२०

द्रष्टव्य—कठ०, १।२।१८

२—नित्यत्व जीव और ईश्वर का सामान्य लक्षण है। ईश्वर पक्ष में—

क्रीडते रमया विष्णुः परमात्मा सनातनः।

तथा जीव–पक्ष में

अंशतः प्रसरन्त्यस्मात्सर्वे जीवाः सनातनाः।

ल०तं०, ७।१०, ११

३—यत्पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात्सङ्कर्षण उत्पद्यते, सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नः, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध—इति। अत्र ब्रूमः। न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि अनित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्।...... ...
प्रतिषेघिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम् — 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः (ब्र०सू० २।३।१७) इति।

शारीरकभाष्य २।२।४२

सृष्टि के पूर्व समस्त जीव नाम और रूप से रहित होकर प्रकृति के साथ ईश्वर के अधीन सूक्ष्म रूप में अवस्थित होते हैं और सृष्टि में ये तीनों तत्त्व स्थूल रूप को धारण कर लेते हैं। यही तात्पर्य निम्नलिखित श्रुति का भी है—

तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इति।[1]

रामानुज ने गीताभाष्य में प्रायः इसी प्रकार का मत प्रकट किया है।[2] जहां तक लक्ष्मीतन्त्र का प्रश्न है उसमें स्पष्ट रूप में यह लिखा है कि समस्त जीव जीवसमष्टि रूप पुरुष हिरण्यगर्भ से प्रसृत होते हैं और प्रलय के समय उसी में लीन हो जाते हैं।[3]

डॉ० श्रैडर ने अड्यार पुस्तकालय, मद्रास में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थ परमतत्त्वनिर्णयप्रकाशसंहिता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उक्त संहिता के अनुसार महाप्रलय के अनन्तर कुछ भी नहीं रह जाता है। केवल अथाह जल तथा बहते हुए वट-पत्र पर शून्यसंज्ञक शिशु। यह शिशु विष्णु है जिसकी कुक्षि में योगनिद्रा में रत जीव हैं।[4]

१—बृह० उ० १।४।७

२—पुरा सर्गकाले भगवान् प्रजापतिः अनादिकालप्रवृत्ताचित्संसर्गविवशा उपसंहृतनामरूपविभागाः स्वस्मिन् प्रलीनाः सकलपुरुषार्थानर्हाः चेतनेतरकल्पाः प्रजाः समीक्ष्य परमकारुणिकः तदुज्जिजीविषया स्वाराधनभूतयज्ञनिर्वृत्तये यज्ञैः सह ताः सृष्ट्वा - - - - -

गीताभाष्य, ३।१०

३—पुरुषो भोक्तृकूटस्थः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः।
अंशतः प्रसरन्त्यस्मात्सर्वे जीवाः सनातनाः॥
प्रलये त्वपियन्त्येनं कर्मात्मानो नरं परम्।

ल०तं०, ७।११, १२

4—'When the day of the Lord has expired and the Great Dissolution is finished, nothing remains but the waters of infinity and, floating on them, on the leaf of a banian tree (*Vaṭa-pattra*) a babe whose name is "The Void" (*Śūnya*). The babe is Viṣṇu, the sleepless one, sleeping the sleep of yoga. In His "womb" (*Kukṣi*) are sleeping all the souls...

I. Pāñ, p. 86

वृहदारण्यक उपनिषद्, गीताभाष्य, लक्ष्मीतन्त्र तथा परमतत्त्वनिर्णय-प्रकाश संहिता के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रलय काल में भी जीव की अपनी सत्ता है। अतः पाञ्चरात्र के जीव का नित्यत्व असन्दिग्ध है। लक्ष्मीतन्त्र में इसी परम्परा का पालन किया गया है।

सर्वज्ञत्व

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान स्वरूप जीव ज्ञान का आश्रय है। अर्थात् ज्ञातृ— स्वरूप है। इस प्रकार इस मत के अनुसार विज्ञानवाद तथा साङ्ख्य–दर्शन में स्वीकृत आत्मा का ज्ञानमात्र स्वरूप, तथा वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत जडस्वरूप स्वीकार्य नहीं।[1]

ज्ञान नित्य है। जीव स्वभावतः सर्वज्ञ है। फिर उसे व्यवहार में अज्ञ या किञ्चिज्ज्ञ कैसे देखा जाता है? इसका उत्तर यह है कि जिस जीव को हम अज्ञ या किञ्चिज्ज्ञ देखते हैं, वह मुक्त अथवा नित्य जीव नहीं हैं। जीव की ही भांति ईश्वर का भी ज्ञान धर्मभूत है। ईश्वर और नित्य जीव का ज्ञान नित्य और विभु है, इस कारण वे कभी किञ्चिज्ज्ञ नहीं होते। बद्ध जीवों का ज्ञान तिरोहित होता है, इसलिए वे किञ्चिज्ज्ञ होते हैं। मुक्त जीवों का ज्ञान मुक्ति के पूर्व तिरोहित तथा बाद में आविर्भूत होता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवों का ज्ञान सङ्कुचित और विकसित होता रहता है। विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत इसी को धर्मभूत ज्ञान कहा गया है।

लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है कि यह जीव तीन प्रकार के सङ्कोच को प्राप्त है—ज्ञान-सङ्कोच, क्रियासङ्कोच, तथा स्वरूपसङ्कोच।[3]

१—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—ज्ञोऽत एव। ज्ञ एव—अयमात्मा ज्ञातृस्वरूप एव न ज्ञानमात्रम् नापि जडस्वरूपः।

श्रीभाष्य, २।३।१९

२—तद्धर्मभूतज्ञानं ईश्वरस्य नित्यानां च सर्वदा नित्यमेव विभु च। बद्धानां तिरोहितमेव। मुक्तानां पूर्वं तिरोहितम् अनन्तरमाविर्भूतम्।

यतीन्द्र०, ७।२

३—ज्ञानक्रियास्वरूपाणां सङ्कोचः त्रिविधस्तु यः।

ल०तं०, ७।२५

इनमें से जब ज्ञान का सङ्कोच होता है तब वह किञ्चिज्ज्ञ होता है।[1] जब जीव मुक्त होता है तो ज्ञानभूयस्त्व को प्राप्त होता है, सर्वज्ञ हो जाता है।[2] नित्य जीव तो सदा सर्वज्ञ होते ही हैं।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव स्वभाव से सर्वज्ञ है, किञ्चिज्ज्ञत्व तो आगन्तुक है।

धर्मभूतज्ञान के सङ्कोच तथा विकास के विषय में भी कुछ कथनीय है। वस्तुतः लक्ष्मीतन्त्र में धर्मभूतज्ञान शब्द का उल्लेख नहीं है, जो कि विशिष्टाद्वैत का एक पारिभाषिक शब्द है, तथापि जीव के जिस ज्ञान का उल्लेख है वह धर्मभूत ही है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार भी ज्ञान जीव का स्वरूप न होकर, जीव का धर्म है। साथ ही यह ज्ञान सङ्कोच और विकास को भी प्राप्त होता है। ज्ञान के सङ्कोच से ही जीव किञ्चिज्ज्ञ हो जाता है। जीवों का कर्म उनके ज्ञान के सङ्कोच में कारण है। इनका ज्ञान तब तक सङ्कुचित रहता है तब तक लक्ष्मी अपनी अनुग्रह शक्ति से इन पर कृपा नहीं करतीं।[4] धर्मभूतज्ञान के विषय में निम्नलिखित उक्ति अधिक प्रमाण होगी :—

वज्ररत्नवदेवैष स्वच्छः स्फुरति सर्वदा ।
चैतन्यमस्य धर्मो यः प्रभा भानोरिवामला ॥[5]

सूर्य धर्मी है और प्रभा उसका धर्म है। जिस प्रकार प्रभा सङ्कोच और विकास को प्राप्त होती है उसी प्रकार जीव का धर्मभूतज्ञान सङ्कोच और

१—किञ्चिज्ज्ञश्चायमित्युत ।

वही, ७।२७

२—नाना स्थानजुषो जीवाः कर्मभिः संसरन्ति ये ।
अधिकारक्षयं नीत्वा शुभपाकवशादिमे ॥
सम्प्राप्य ज्ञानभूयस्त्वं योगक्षपितकल्मषाः ।
आरोहन्ति शनैःकोषानारूढा न पतन्ति ते ॥

वही, ६।३०, ३१

३—सूरयो नित्यसंसिद्धाः (सम्बन्धाः) सर्वदा (सर्वज्ञाः) सर्वदर्शिनः ।

वही, १७।१८

४—यावन्निरीक्ष्यते नायं मया कारुण्यवत्तया ।
तावत् सङ्कुचितज्ञानः करणैर्विश्वमीक्षते ॥

वही, १३।३३

५—वही, १३।२५

विकास को प्राप्त होता रहता है। रामानुज भी मणि और प्रभा के दृष्टान्त से धर्मभूतज्ञान के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं।[१] लक्ष्मीतन्त्र में एक स्थल पर यह कहा गया है कि जीव के ज्ञान का सङ्कोच माया के कारण होता है।[२] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यहाँ पर माया का क्या अर्थ है? वस्तुतः लक्ष्मीतन्त्र में कहीं भी माया शब्द अद्वैतसम्मत माया के अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है।[३] स्वभाव, अविद्या आदि माया के पर्यायवाची शब्द हैं।[४] यहाँ पर माया का अर्थ कर्म है। जिसे विष्णुपुराण में कर्मसंज्ञा अविद्या कहा गया है वही कर्मसंज्ञा माया की भी है।[५]

सर्वकर्तृत्व

जीव केवल सर्वज्ञ ही नहीं अपितु सर्वकृत् भी हैं—

ज्ञानक्रियासमायोगात् सर्ववित्सर्वकृत्सदा[६]।

नित्य तथा मुक्त जीव सदा सर्वकृत् रहते हैं किन्तु बद्ध जीव अपनी

१—ज्ञोऽत एवेत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वं च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम्। स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं सङ्कोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः।

श्रीभाष्य, १।१।१, पृ० ६९, द्रष्टव्य—वेदार्थसङ्ग्रह, पृ० ११

२—मायया ज्ञानसङ्कोचः।

ल०तं०, ७।२६

३—मायाश्चर्यगुणात्मिका।

वही, ४।४५

४—वही, १५।३०

५—अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा॥
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्।
तयातिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन लक्ष्यते॥

विष्णुपुराण, ६।७।६१—६३

६—वही, १३।३२

अवस्था में सदा किञ्चित्कर होते हैं। यदि जीव स्वरूपतः सर्वकृत् है तो बद्ध जीव किञ्चित्कर क्यों होते हैं? तीन प्रकार के सङ्कोच का उल्लेख किया गया है जिनमें ज्ञान के सङ्कोच से जीव किञ्चिज्ज्ञ हो जाता है तथा क्रिया के सङ्कोच से किञ्चित्कर।[१]

जब जीव मुक्त होता है तो वह सर्ववित् और सर्वकृत् हो जाता है। यहां तक कि कर्तृत्व को लेकर ब्रह्म और जीव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता है। जीव मुक्त होने पर कर्मसाम्य को प्राप्त करता है।[२] यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जगत्सृष्टि आदि कर्म भी क्या जीव के कर्तृत्व के क्षेत्र में आते हैं? यदि नहीं आते तो कर्मसाम्य का क्या अर्थ है? और यदि आते हैं तो सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को सृष्टि आदि का कर्ता मानने का क्या अर्थ है?[३]

'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च'[४]। इस अधिकरण पर भाष्य लिखते हुए रामानुज ने प्रायः इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि जगत्सृष्टि आदि कर्तृत्व उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म का लक्षण है। यदि यह जगन्नियमन आदि जीव और ब्रह्म में सामान्य हैं तो यह ब्रह्म का लक्षण दुष्ट मानना पड़ेगा क्योंकि असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। इस कारण मुक्त का ऐश्वर्य जगद् व्यापार को छोड़कर ही है।[५]

यद्यपि लक्ष्मीतन्त्र में इस प्रकार के अथवा किसी अन्य प्रकार के समा-

---

१—किञ्चित्करश्चैव किञ्चिज्ज्ञश्चायमित्युत।
वही, ७।२७

२—कर्मसाम्यं भजन्त्येते प्रेक्ष्यमाणा मया तदा।
तथा
कर्मसाम्यं समासाद्य ... ...
वही, १३।९, १२

३—वही, ४।११, १९, २० आदि

४—ब्रह्मसूत्र, ४।४ १७

५—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगद्व्यापारः—निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थिति-प्रवृत्तिभेदनियमनम्। तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानु-भवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्। कुतः? प्रकरणात्—निखिलजगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याऽऽम्नायते—यतो वा इमानि..... यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न

धान का उल्लेख नहीं है तथापि उक्त सर्वकर्तृत्व रामानुज द्वारा निर्दिष्ट दिशा में समझा जा सकता है। वह यह कि जीव के सर्वकर्तृत्व के अन्तर्गत जगद्-व्यापार आदि कर्म नहीं आते। यह निष्कर्ष इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि लक्ष्मीतन्त्र के अन्तर्गत जीव को ईशितव्य की कोटि में रखा गया है।[1] यदि जीव जगद् व्यापार आदि का कर्ता होता तो वह ईशितव्य न हो कर ईश होता।

अनणुत्व

वैष्णवदर्शनों में जीव को अणु माना गया है। यह लक्ष्मीतन्त्र की विशेषता है कि वैष्णव आगम होते हुए भी इसमें जीव को अनणु कहा गया है।

यद्यपि जीव स्वरूपतः अनणु है तथापि त्रिविध सङ्कोच में से स्वरूप सङ्कोच के कारण वह अणु स्वरूप हो जाता है।[2] प्रश्न उठता है कि अणु-स्वरूप तथा अनणु स्वरूप कहने का क्या अर्थ है। जहाँ तक अनणु का प्रश्न है, वह विभु भी हो सकता है तथा मध्यम परिणाम भी। इस विषय पर विचार करते हुए पण्डित कृष्णमाचार्य का कथन है कि यहाँ पर अनणुत्व का अर्थ विभुत्व नहीं हो सकता क्योंकि जीव का अणुत्व अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध है। पण्डित कृष्णमाचार्य ने यहाँ पर यह नहीं बताया है कि जीव के अणुत्व साधक अन्य प्रमाण कौन से हैं? तथापि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रकृत स्थल पर विशेष रूप से अणुत्व-वर्णन का अर्थ किञ्चित्करत्व या किञ्चिज्ज्ञत्व ही है।[3]

सङ्कुच्छते। असाधारणस्य हि लक्षणत्वम्।

श्रीभाष्य, ४।४।१७

१—ईशो नारायणो ज्ञेय ईशता तस्य चाप्यहम्।
ईशितव्यं तु विज्ञेयं चिदचिच्च पुरन्दर॥

ल० तं०, ३।१४

२—वही, ७।२६, २७

३—स्वरूपसङ्कोचेनाणुरूप इत्युक्त्वा जीवस्य स्वाभाविकं विभुरूपत्वमिति न मन्तव्यम् तस्याणुस्वरूपत्वस्यानेकप्रमाणसिद्धत्वात्। तस्मादत्र विशिष्याणुरूपत्ववर्णनमसर्वशक्तत्वासर्वज्ञत्वादिपरं वेदितव्यम्। तदेवाशक्तेरित्यनेन विव्रियते।

ल० तं० टी०, ७

जिसे लक्ष्मीतन्त्र में स्वरूप सङ्कोच कहा गया है उसी को अहिर्बुध्न्यसंहिता में आकार-तिरोधान कहा गया है।[१] इसी के कारण जीव के स्वरूप में अणुत्व आ जाता है। डॉ० श्रैडर ने भी इस समस्या पर विचार किया है। उनका कथन है कि संहिता में प्रयुक्त अणु शब्द का अर्थ नियत रूप में अणु नहीं है अपितु इसका अर्थ है सूक्ष्म, लघु; जिसका तात्पर्य है देश से परिच्छिन्न तथा अनणु का अर्थ सर्वगत, सर्वव्यापक या विभु न होकर देश परिच्छेद से रहित होगा।[२]

पण्डित कृष्णमाचार्य का मत अधिक सङ्गत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि यदि उनके अनुसार अणुत्व को किञ्चित्करत्व और किञ्चिज्ज्ञत्व परक मान लिया जाय तो अणुत्व का स्वतन्त्र कोई भी अस्तित्व नहीं रह जायगा और इस प्रकार जीव के केवल दो रूप ही होंगे जबकि लक्ष्मीतन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि उसमें प्रकृत स्थल पर तीन रूपों का वर्णन किया जा रहा है।[३] इसका अर्थ है कि अणुत्व का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि इस त्रिरूपत्व का वर्णन तथा अणुत्व का प्रतिपादन एक ही स्थल पर होता तो दूसरी बात थी। न केवल लक्ष्मीतन्त्र में अपितु अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी इस त्रिरूपत्व का तथा अणुत्व का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।[४] इसका अर्थ है कि यहाँ पर अणुत्व का स्वतन्त्र अर्थ है, न कि किञ्चित्करत्व या किञ्चिज्ज्ञत्व परक।

१—आकारस्य तिरोधानादणुत्वं पुंस इष्यते।

अहिर्बु०, १४।१८

2—The surprising solution of the problem, then, is that in our passage the word *aṇu* does not mean "atomic" but "small, little" in the sense of "spatilly restricted" and as the opposite of that which is, not so much omnipresent, as beyond space.

I. Pāñ. pp. 90, 91,

३—तस्य विद्धि त्रिरूपत्वं तस्य व्याख्यामिमां शृणु।

ल० तं०, ७।२५

४—पुमांसं जीवसंज्ञं सा तिरोभावयति स्वयम्।
आकारैश्वर्यविज्ञानतिरोभावनकर्मणा ॥

डॉ० श्रैडर द्वारा किया गया अर्थ अधिक बुद्धिगम्य है। अहिर्बुध्न्य-संहिता में जीव को अपरिच्छेद्य कहा गया है।[१] यहाँ अपरिच्छेद्य का अर्थ विभुत्व या व्यापकत्व नहीं है। यही अर्थ अनणुत्व का समझा जा सकता है। डॉ० श्रैडर के कहने का भी यही तात्पर्य है। शैव ग्रन्थों के अनुसार पूर्णता के अभाव से परिमित होने के कारण अणुत्व होता है।[२]

जीव के स्वरूप की धारणा में शैव प्रभाव

प्रस्तुत स्थल (अध्याय षष्ठ और सप्तम) देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें प्रतिपादित विषय बहुत कुछ शैव सिद्धान्तों के समान ही है। जहाँ तक त्रिविध सङ्कोच और उससे परिणाम आदि का सम्बन्ध है डॉ० श्रैडर ने इस पर शैव सिद्धान्त के प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख किया है।[३] लक्ष्मीतन्त्र तथा शैवसिद्धान्त दोनों के अन्तर्गत आत्मा के एकरूपत्व, द्विरूपत्व, त्रिरूपत्व, चतूरूपत्व पञ्चत्रिंशद् रूपत्व प्रायः एक ही में स्वीकार किये गये हैं।[४]

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार प्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा एकरूप है। ग्राह्य और ग्राहकता के कारण वह द्विरूप हो जाता है। ज्ञान, आकार और

... .

अकारस्य तिरोधानादणुत्वं पुंस इष्यते।

अहिर्बु०, १४।१६, १८

१—अनादिरपरिच्छेद्यश्चिदानन्दमयः पुमान्।

वही, १४।६

२—पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वादणुत्वम्।

3— As a matter of fact, nothing remains but to admit that we have here Śaiva tenet in Vaiṣṇava garb. For the śaivas do teach that the souls are naturally "omnipresent" that is not hampered by space, though limited, while in bondage by *niyati* or spatial restriction.

I. Pāñ. p. 90

१—लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार—

ऐकरूप्यं द्विरूपत्वं त्रिरूपत्वं चतुर्भिदाम्।
सप्तपञ्चकरूपत्वं प्रमाता यत्प्रपद्यते॥

ल० तं०, ६।३९

क्रिया के कारण त्रिरूप होता है।[1] शून्य, प्राण, पुर्यष्टक तथा देह-स्वभाव वाला होने के कारण वह चतूरूप है। पञ्चत्रिंशत् तत्त्व स्वभाव वाला होने के कारण वह सप्तपञ्चक रूप है।[2]

इनमें से जीव के त्रिरूपत्व, चतूरूपत्व तथा सप्तपञ्चक रूपत्व का विशेष वर्णन है। त्रिरूपत्व की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जीव के ज्ञान, क्रिया तथा स्वरूप या आकार का जो त्रिविध सङ्कोच होता है उसे ही जीव का त्रिरूपत्व कहते हैं। यद्यपि स्वरूपतः यह जीव अनणु, सर्वज्ञ तथा सर्वकृत् है तथा इस त्रिविध सङ्कोच के कारण अणु, किञ्चिज्ज्ञ, तथा किञ्चित्कर हो जाता है। अर्थात् जीव स्वरूप-सङ्कोच के कारण वह अणु, किञ्चिज्ज्ञ तथा किञ्चित्कर हो जाता है। जीव स्वरूप-सङ्कोच के कारण अणु, क्रिया-सङ्कोच के कारण वह किञ्चित्कर तथा ज्ञान-सङ्कोच के कारण वह किञ्चिज्ज्ञ हो जाता है। यही जीव का त्रैरूप्य है।[3]

चातूरूप्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जीव शून्य, प्राण, पुर्यष्टक, तथा देह के कारण चार रूपों वाला होता है। इसके लिए प्रमाता अन्तःकरण, बहिःकरण तथा भावभूमिका—ये अन्य संज्ञायें भी दी गयी हैं।[4]

शैव-सिद्धान्त के अनुसार—

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र ७, पृ० २२

१—प्रकाशेनात्मनो ह्येको ग्राह्यग्राहकतावशात्।
द्वैरूप्यं तत्त्रिरूपत्वं ज्ञानाकारक्रियात्मना।

ल० तं०, ६।४०

२—सप्तपञ्चकरूपत्वं तत्त्वतत्त्वस्थितौ स्थितम्।

वही, ६।४१

३—ज्ञानक्रियास्वरूपाणां सङ्कोचस्त्रिविधस्तु यः।
तस्य विद्धि त्रिरूपत्वं तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥
मायया ज्ञानसङ्कोचः ज्ञानैश्वर्यात्क्रियाव्ययः।
अशक्तेरणुता रूपे त्रिधैव व्यपदिश्यते॥
अणुः किञ्चित्करश्चैव किञ्चिज्ज्ञश्चायमित्युत॥

वही, ७।२५-६७

४—तस्याः स्मृताश्चतस्रो मे दशास्त्रिदशपुङ्गव॥

तुरीयावस्था में यह आत्मा शून्यमय, सुषुप्ति में प्राणमय, स्वप्न में पुर्यष्टक-मात्र तथा जाग्रद्‌वस्था में देहस्वभाव वाला होता है। तुरीयावस्था में प्राण भी विनिर्वर्तित हो जाते हैं। उस समय जीव स्वात्मसत्ता-मात्र वाले होने के कारण शून्यमय कहा जाता है। सुषुप्ति में प्राण ही व्याप्त हो जाते हैं इस कारण उस अवस्था में जीव को प्राणमय कहा गया है। स्वप्नावस्था में प्रमाता नियत सूक्ष्म शरीर को धारण करता है। इस सूक्ष्म शरीर को ही पुर्यष्टक कहते हैं। पुर्यष्टक का अर्थ है आठ की पुरी। वे आठ हैं—प्राण, भूत, कर्म, इन्द्रियगण, प्राकृत गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्), प्राग्वासना, अविद्या तथा लिङ्ग।

जाग्रदवस्था में जीव अपनी देह से युक्त हो जाता है। यह चतुर्थ रूप है। यही चातुरात्म्य है।[1]

सप्तपञ्चकरूपत्व के अन्तर्गत पञ्चत्रिंशत् तत्त्वों की गणना की गयी है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

१—पृथ्वी	८—रूप
२—जल	९—स्पर्श
३—तेज	१०—शब्द
४—वायु	११—उपस्थ
५—आकाश	१२—पायु
६—गन्ध	१३—पाद
७—रस	१४—पाणि

प्रमातेति विधा त्वेका तदन्तःकरणं परा।
बहिःकरणमन्या च चतुर्थी भावभूमिका॥

वही, ६।३४,३५

१—चातूरूप्यं तु यत्तस्य तदिहैकमनाः शृणु।
आद्यं शून्यमयो माता मूर्छादौ परिकीर्तितः॥
ततः प्राणमयो माता सुषुप्तौ परिकीर्तितः।
प्राणा एव प्रतायन्ते सुषुप्तौ पुरुषस्य तु॥
मूर्छाविषोपघातादौ प्राणोऽपि विनिवर्तते।
केवलं स्वात्मसत्तैव ततः शून्यस्तदा पुमान्॥
तृतीयोऽष्टपुरीमात्रः स्वप्ने माता प्रकीर्तितः।
प्राणा भूतानि कर्माणि करणानि त्रयो गुणाः॥
प्राग्वासना अविद्या च लिङ्गं पुर्यष्टकं मतम्।

१५—वाक् २६—माया
१६—घ्राण २७—सत्त्व
१७—जिह्वा २८—रजस्
१८—चक्षु २९—तमस्
१९—त्वक् ३०—काल
२०—श्रोत्र ३१—नियति
२१—मनस् ३२—शक्ति
२२—अहङ्कार ३३—पुरुष
२३—बुद्धि ३४—परम व्योमन्
२४—प्रकृति ३५—भगवान् ।[1]
२५—प्रसूति

यह लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार जीव का स्वरूप कहा गया है। इतना निश्चित है कि परस्पर प्रभावित होते हुए भी इनमें पर्याप्त अन्तर है।

इसके पूर्व भी यह कहा जा चुका है कि शैव दर्शन के अन्तर्गत भी जीव को एकरूप, द्विरूप, त्रिरूप, चतूरूप तथा सप्तपञ्चक-स्वभाव वाला कहा गया है।[2]

जहाँ तक जीव के एकरूपत्व का प्रश्न है 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के अन्तर्गत क्षेमराज का स्पष्ट कथन है कि एक आत्मा चिदात्मा शिव भट्टारक ही हैं, अन्य कोई नहीं, क्योंकि प्रकाश का देश काल आदि से जन्य किसी प्रकार का

स्वप्नेऽन्तःकरणेनैव स्वैरं हि परिवर्तते ॥
चेष्टमानः स्वदेहेन देही जाग्रद्दशां गतः ।
चातूरूप्यमिदं पुंसः ... ...

वही, ७।१९-२४

१—स्थूलसूक्ष्मविभेदेन भूतानि दश खानि च ॥
ज्ञानकर्मविभेदेन त्रीण्यन्तःकरणानि च ।
प्रकृतिश्च प्रसूतिश्च माया सत्त्वं रजस्तमः ॥
कालश्च नियतिः शक्तिः पुरुषः परमं नभः ।
भगवानिति तत्त्वानि सात्वतः समधीयते ।

वही, ६।४२-४४

२—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सू० ७

भेद नहीं होता है।[१] लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि आत्मा प्रकाश स्वरूप होने के कारण एक रूप है।[२] यद्यपि लक्ष्मीतन्त्र में इस विषय का विस्तृत विवेचन नहीं है तथापि इतना स्पष्ट है कि इसमें भी शिव-भट्टारक के स्थानापन्न परमात्मा ही एक आत्मा है।

द्विरूपत्व का उल्लेख करते हुए प्रत्यभिज्ञाहृदय का कथन है कि प्रकाश ही जब प्राण आदि से सङ्कुचित होने के कारण सङ्कुचित अर्थ की ग्राहकता को प्राप्त होता है, तब प्रकाशरूपत्व तथा सङ्कोचावभास-रूपत्व के कारण उसे द्विरूप कहते हैं।[३] सम्भवतः इसी प्रकार का अर्थ लक्ष्मीतन्त्र में बताया गया है। यथाग्राह्य और ग्राहकता के कारण आत्मा द्विरूप होता है।[४]

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आणव, मायीय तथा कार्म मलों से आवृत होने के कारण आत्मा त्रिमय होता है।[५] आणवमल मूल मल है, जिसके द्वारा चिदात्मा जीव में अपूर्णता आती है। इसके अनन्तर मायीय मल के द्वारा भिन्न वेद्यप्रथात्व की प्राप्ति होती है। कार्म मल अहङ्कार के प्रभाव से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय द्वारा किये गये कर्मों की वासनाओं को कहते हैं। अत्यन्त सङ्कोच को प्राप्त हुए शुभ अशुभ कर्मों के अनुष्ठान को कार्ममल कहते हैं।[६] स्पष्ट है कि लक्ष्मीतन्त्र या अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहे गये जीव के

१—निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव एक आत्मा, न तु अन्यः कश्चित् प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात् जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः।
प्रत्यभिज्ञाहृदय, ७, पृ० १५

२—प्रकाशेनात्मनो ह्येको...............
ल० तं०, ६।४०

३—प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादिसङ्कोचः सङ्कुचितार्थग्राहकतामश्नुते, ततः असौ प्रकाशरूपत्व-सङ्कोचावभासवत्त्वाभ्यां द्विरूपः।
प्रत्यभिज्ञाहृदय, ७, पृ० १५

४— ... ... ग्राह्यग्राहकतावशात्।
द्वैरूपयम् ... ... ॥
ल० तं०, ६।४०

५—आणवमायीयकार्ममलावृतत्वात् त्रिमयः।
प्रत्यभिज्ञाहृद्रय, ७, पृ० १५

६—क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे ...... अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्।
प्रत्यभिज्ञाहृदय, १०, पृ० २२

त्रिरूपत्व के साथ नाम मात्र का ही साम्य है। शैव दर्शन में उक्त त्रिमयत्व पाञ्चरात्र के त्रिरूपत्व से सर्वथा भिन्न है। पञ्च या (माया सहित) षट् कञ्चुकों के साथ इनका कुछ साम्य अवश्य देखा जा सकता है। डॉ० श्रैडर का कथन है कि अनणुत्व, किञ्चिज्ज्ञत्व, तथा किञ्चित्कर्तृत्व क्रमशः शैव दर्शन के नियति, विद्या तथा कला नामक कञ्चुकों के समान हैं।[1] वस्तुतः चिदात्मा की सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व तथा व्यापकत्व नामक शक्तियाँ सङ्कोच को प्राप्त होती हुई क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पञ्च कञ्चुकों के रूप में भासित होती हैं।[2] इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि लक्ष्मीतन्त्र में या अहिर्बुध्न्यसंहिता में क्रिया, ज्ञान तथा आकार की दृष्टि से जिस त्रिरूपत्व का वर्णन है वह शैव दर्शन के नियति, विद्या तथा कला नामक कञ्चुकों के समान है।

जहाँ तक चातूरूप्य का प्रश्न है नाम की दृष्टि से शैवदर्शन तथा लक्ष्मीतन्त्र में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दोनों के अन्तर्गत शून्य, प्राण, पुर्यष्टक तथा शरीर—ये चार रूप हैं।[3]

पुर्यष्टक को लेकर स्वयं शैव दर्शन में दो धारायें हैं। एक के अनुसार पञ्च प्राण (५), ज्ञानेन्द्रिय (१), कर्मेन्द्रिय (१) तथा बुद्धि ही पुर्यष्टक है।

1—.........“Omnipresent”, that is not hampered by space though limited, while in bondage, by *niyati* or spatial restriction. The latter, as we know already, is one of the five (or, including *Māyā*, six) limitations of the soul called *Kañcukas*, and the connection of our ...
two other Taints, to wit those of “Little—knowing” and “Little—achieving” are absolutely identical with the *Kañcukas* called *Vidyā* and *Kalā*.

I. Pāñ., p. 90

२—तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, ९, पृ० २२

३—शून्यप्राणपुर्यष्टकशरीरस्वभावत्वात् चतुरात्मा।

वही, ७, पृ० १६

तथा
ल०तं०, ७।१९—२३

दूसरी धारा के अनुसार पञ्चतन्मात्र (५), मन (१), अहङ्कार (१) तथा बुद्धि (१) पुर्यष्टक हैं।[१] लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार पुर्यष्टक इन दोनों धाराओं से भिन्न है।[२]

सप्तपञ्चक रूपत्व के भी दो अर्थ किये गये हैं। सप्तपञ्चक अर्थात् ३५ तत्त्व स्वभाव वाला। लक्ष्मीतन्त्र में भी सप्तपञ्चक का यही अर्थ किया गया है किन्तु वे पैंतीस तत्त्व कौन कौन से हैं? इस प्रश्न को लेकर थोड़ा अन्तर है। लक्ष्मीतन्त्र में उक्त ३५ तत्त्वों का वर्णन पहले किया जा चुका है। शैव दर्शन के अनुसार ३५ तत्त्व निम्नलिखित हैं:—

१—शिव	१९—जिह्वा
२—सदाशिव	२०—घ्राण
३—ईश्वर	२१—वाक्
४—शुद्धविद्या	२२—पाणि
५—माया	२३—पाद
६—कला	२४—पायु
७—विद्या	२५—उपस्थ
८—राग	२६—शब्द
९—काल	२७—स्पर्श
१०—नियति	२८—रूप
११—पुरुष	२९—रस
१२—प्रकृति	३०—गन्ध
१३—बुद्धि	३१—आकाश
१४—अहङ्कार	३२—वायु
१५—मन	३३—वह्नि
१६—श्रोत्र	३४—सलिल
१७—त्वक्	३५—भूमि।
१८—चक्षु	

१—प्राणादिपञ्चकं बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियगणो निश्चयात्मिका यतो धीर्व्यज्यते तन्मात्रपञ्चकं मनोऽहं बुद्धय इत्यन्ये ॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ३।२, पृ० २६३—६४

२—प्राणा भूतानि कर्मांणि करणानि त्रयो गुणाः।
प्राग्वासना अविद्या च लिङ्गं पुर्यष्टकं मतम् ॥ ल०तं०, ७।२२, २३

सप्तपञ्चक के दूसरे अर्थ के अनुसार सप्त का अर्थ है प्रमातृसप्तक तथा पञ्चक का अर्थ है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्ति रूप होते हुए भी कला, विद्या, राग, काल, नियति कञ्चुकों से सङ्कुचित होना।[1]

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रकृत प्रसङ्ग में लक्ष्मीतन्त्र तथा शैव दर्शन में बहुत साम्य है। यह कहना अत्यधिक कठिन है कि दोनों में कौन किससे प्रभावित है, तथापि डॉ० श्रैडर का यह कथन है कि पाञ्चरात्र मत का माया कोश ही शैव दर्शन के अन्तर्गत पञ्चकञ्चुकों के रूप में विकसित हुआ और बाद में पञ्चकञ्चुकों ने पाञ्चरात्र सिद्धान्त को प्रभावित किया।[2]

आनन्त्य

साङ्ख्य दर्शन की भाँति पाञ्चरात्र सिद्धान्त में भी जीवों को प्रति-शरीर भिन्न माना गया है। लक्ष्मीतन्त्र में जीव को अनन्त कहा गया है।[3] प्रकृति तथा पुरुष में यह भी एक वैलक्षण्य है कि प्रकृति एक है जब कि पुरुष अनन्त। अन्य कुछ उद्धरणों से ज्ञात होता है कि जीवों का बहुत्व सनातन है।[4]

१—सप्तपञ्चकानि—शिवादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशत्तत्त्वानि तत्स्वभावः। तथा शिवादिसकलान्तप्रमातृसप्तकस्वरूपः। चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाशक्ति-रूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कलाविद्यारागकालनियतिकञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, ७, पृ० १६

2—"The Pāñcarātra doctrine of the *Māyā Kośā* was developed by the Śaivas into the theory of the *Kañcukas*, after which the latter influenced the *Pāñcarātra*".

I . Pāñ, p. 90 F.N. 4,

३—ह्यनन्तो प्रतिसङ्क्रमः,
तथा
शुद्धोऽनन्तो गुणात्मकः।

ल०तं०, १६।१४, १९

द्रष्टव्य—अनन्तः, संख्यया ज्ञानादिगुणैश्चापरिच्छिन्नः।

ल०तं०टी०, १६।१४

४—सर्वे जीवाः सनातनाः।

ल०तं०, ७।१०

विशिष्टाद्वैत दर्शन की यही स्थिति है। जहाँ कहीं भी जीवों के एकत्व का उल्लेख किया जाता है, उसका अर्थ स्वरूपतः एकत्व न होकर, उसी प्रकार का एकत्व है जिस प्रकार एक परिमाण वाले अनेक सुवर्ण घंटों में एक घट अथवा ब्रीहिराशि के लिए एक ब्रीहि का व्यवहार।[1]

समत्व

यद्यपि जीव अनन्त हैं तथापि उनमें समत्व है। लोक में उनमें जो भेद दिखायी देता है उसका कारण जीवों के कर्म ही हैं।[2] जीवों के पुण्य का तारतम्य ही इस वैषम्य का कारण है।[3]

जीव तथा ईश्वर

अन्य संहिताओं की भाँति लक्ष्मीतन्त्र में भी जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में अद्वैतपरक शब्दावली की शङ्का की जा सकती है। किन्तु वस्तुतः ब्रह्म के लिए निर्गुण, निरञ्जन, निराकार आदि शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जिससे अद्वैतपरक अर्थ की शङ्का की जा सके।[4] वैष्णव ग्रन्थों में प्रायः ईश्वर को पिता, रक्षक, शेषी, भर्ता, स्वामी, आधार आदि कहा गया है। तथापि लक्ष्मीतन्त्र में अधिकतर निम्नलिखित प्रकार के सम्बन्धों पर बल दिया गया है—

१—स च प्रतिशरीरं भिन्नः। एकपरिमाणेषु अनेकेषु सुवर्णघटेषु एको घटः इति प्रतीतिवत्, ब्रीहिराशौ एको ब्रीहिः इतिवच्च ज्ञानैकाकारतया एकत्वव्यवहारः। न तु स्वरूपैक्यं, प्रमाणविरोधात्।

यतीन्द्र०, जी०, १०४

२—सञ्चितं कर्म सम्प्रेक्ष्य मिश्रां सृष्टिं करोम्यहम्।

ल०तं०, ३।३३

३—भेदोऽधिकारिणां पुण्यतारतम्येन जायते।

वही, ११।४५

४—वासुदेवः परं ब्रह्म गुणशून्यं निरञ्जनम्।
देशकालानवच्छिन्नमनाकारमनूपमम् ॥
अहमित्येव तद्ब्रह्म स्वात्मसम्बोधि निगुर्णम्।

वही, १४।२, २२।४, ५

१—ईशेशितव्य,
२—रक्ष्यरक्षक,
३—आधाराधेय तथा
४—नियन्तृनियाम्य ।

ईशेशितव्य भाव[1] सम्बन्ध, तथा नियन्तृनियाम्य भाव[2] सम्बन्ध प्रायः एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं । चित् और अचित् अर्थात् जीव और प्रकृति ईशितव्य कोटि में आती हैं अथवा नियाम्य कोटि में आती हैं तथा ईश्वर इन दोनों का नियमन करता है । इस कारण वह नियन्ता या ईश है । व्याख्या करते हुए कहा गया है कि कोई किसी का नियन्ता होता है तथा कोई किसी का । यह व्यवस्था जहाँ जाकर रुकती है अर्थात् जो सबका (चिद् अचिद् का) नियन्ता होते हुए भी स्वयं नियाम्य न हो, वह परमात्मा या ईश्वर है । चेतन और अचेतन अर्थात् जीव और प्रकृति उसके क्रोड में रहते हैं ।[3] सम्पूर्ण चेतन और अचेतन आधेय हैं, किन्तु ईश्वर सबका आधार है ।[4] यों तो जीव शुद्ध है, आनन्द स्वरूप है, किन्तु अनादि अविद्या के कारण उसका यह रूप तिरोहित हो जाता है । यह अविद्या विद्या के द्वारा तिरोहित होती है, जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होता है। इसी कारण जीव और ईश्वर के मध्य में रक्ष्यरक्षक सम्बन्ध माना गया है [5] ईश्वर रक्षक तथा तद्व्यतिरिक्त रक्ष्य हैं ।

१—ईशो नारायणो ज्ञेय ईशता तस्य चाप्यहम् ।
ईशितव्यं तु विज्ञेयं चिदचिच्च पुरन्दर ॥

वही, ३।१४

२—वही, २।२-४, ५०।७

३—कश्चित्केषाञ्चिदात्मा स्यात्तस्यान्येषां च कश्चन् ।
तस्याप्यन्य इतीत्थं तु यत्रैषा व्यवतिष्ठते ॥
... ...
अनवच्छिन्नरूपोऽहं परमात्मेति शब्द्यते ।
क्रोडीकृतमिदं सर्वं चेतनाचेनतात्मकम् ॥

वही, २।२, ४

४—आधारोऽस्म्यशेषाणां नैवाधेयास्मि केनचित् ।

वही, १४।४४

५—अविद्या सा तिरोभावं विद्यया याति वै यदा ।
... ...

वक्ष्मीतन्त्र के पचासवें अध्याय में ईश्वर के गुणों के वर्णन के प्रसङ्ग में उपर्युल्लिखित सभी प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन एक स्थल पर किया गया है।[१] प्रायः सभी वैष्णवों के लिए ईश्वर पिता, माता, स्वामी आदि सभी कुछ है। यामुनाचार्य के शब्दों में—

> पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
> त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम्।
> त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहम्
> प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः॥[२]

इस प्रकार जीव स्वरूपतः नित्य, सर्वज्ञ, सर्वकृत्, अनणु, अनन्त, आनन्द स्वरूप होते हुए ईश्वर की अपेक्षा से ईशितव्य, आधेय, विधेय, नियाम्य, रक्ष्य आदि स्वरूपवाला हैं।[३] जीव और ईश्वर का यही सम्बन्ध है। अद्वैत मत के एकीभाव सम्बन्ध का कोई प्रश्न नहीं उठता है। पाञ्चरात्र संहिताओं में इस प्रकार के सम्बन्ध के द्योतक शब्द आ जाते हैं किन्तु कहीं भी पाञ्चरात्र के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भ्रम नहीं होता है। एकीभाव आदि शब्दों का अर्थ स्वरूपतः

> प्रवर्तयामि कारुण्याज्ज्ञानसद्भावदर्शिनी।
> रक्ष्यरक्षकभावोऽयं सम्बन्धो विधयोर्द्वयोः॥

वही, ३।१७, १९

१—देवो नारायणो नाम जगतस्तस्थुषस्पतिः।
आत्मा च सर्वलोकानां षड्गुणानन्दविग्रहः।
सर्वप्रकृतिरीशानः सर्वज्ञः सर्वकार्यकृत्।
निरनिष्टोऽनवद्यश्च सर्वकल्याणसंश्रयः॥
तमसां तेजसां चैव भासकः स्वप्रकाशतः।
अन्तर्यामी नियन्ता च भावाभावविभावितः॥
शक्तिमान् सकलाधारः सर्वशक्तिर्मदीश्वरः।

वही, ५०।५-८

२—स्तोत्ररत्न, ६०

३—स्वतः सुखी, उपाधिवशात् संसारः। अयं च कर्ता भोक्ता शरीरी शरीरं च भवति। प्रकृत्यपेक्षया शरीरी, ईश्वरापेक्षया शरीरम्।

यतीन्द्र०, जीव०, पृ० १०५

एकत्व नहीं है।[१] ईश्वर एक तत्त्व मात्र है। जीव और प्रकृति उसके अधीन है, उसके स्वगत भेद हैं।[२]

जीवों के प्रकार

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुसार जीवों के तीन प्रकार हैं—(१) बद्ध, (२) मुक्त और (३) नित्य। विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीवों के इस विभाजन पर बल दिया गया है।[३] लक्ष्मीतन्त्र में यह विभाग स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं है तथापि उसमें वर्णित जीवों के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस विभाजन को पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार करके ही जीवों के स्वरूप के विषय में कुछ कहा गया है।

बद्ध जीव वे हैं जो जन्म-मरण आदि बन्धनों में बँधे हैं—संसार से बँधे हुए हैं।[४] मुक्त जीव वे हैं जो पहले बद्ध थे किन्तु बाद में प्रपत्ति आदि उपायों के द्वारा संसार से मुक्त हो कर अनन्त काल के लिए ब्रह्मानुभव को प्राप्त करते हैं।[५] नित्य जीव वे हैं जो अनादि काल से ईश्वर के अनुकूल आचरण करते हुए ज्ञान-सङ्कोच से रहित स्वभाव वाले हैं। इस कोटि में शेष,

---

1 ' and even the Aupaniṣadic image of the rivers entering the ocean means for the Pāñcarātrin only that in Liberation the souls become practically but not really one.'

I. Pāñ., p. 93.

२—अनवच्छिन्नरूपोऽहं परमात्मेति शब्द्यते।
क्रोडीकृतमिदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकम्॥

ल० तं०, २।४

३—स जीवस्त्रिविधः बद्धमुक्तनित्यभेदात्।

यतीन्द्र०, जीव०, पृ० १०७

४—तत्र बद्धा नाम अनिवृत्तसंसाराः।

वही, जीव०, पृ० १०८

५—मुक्तो नाम उपायपरिग्रहणानन्तरं...उत्तरावधिरहितब्रह्मानुभववान् यः स मुक्त इत्युच्चते।

वही, पृ० ११६–१२०

गरुड, विष्वक्सेन आदि आते हैं।[१]

लक्ष्मीतन्त्र को यह जीवों का विभाजन स्वीकार्य है। तथा इनके उपर्युक्त अर्थ को भी स्वीकार किया गया है। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में जीव अनादि अविद्या से बँधे रहते हैं।[२] साथ ही मुक्त जीवों की सत्ता भी स्पष्ट रूप से मानी गयी है।[३] वस्तुतः बद्ध और मुक्त परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। यदि बन्धन है तो मुक्ति अवश्य है; और यदि मुक्ति है तो बन्धन भी अवश्य हैं। ब्रह्मा, शङ्कर आदि को सूरि कहा गया है। इसी प्रसङ्ग में अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि का उल्लेख किया गया है। पाञ्चरात्र मत में इन्हीं को नित्य जीव कहा गया है।[४] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि यह विभाजन लक्ष्मीतन्त्र में स्पष्टतः नहीं किया गया है तथापि इसे पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार किया गया है।

पञ्चकृत्य

लक्ष्मी की भाँति जीव के भी पाँच कृत्य होते हैं। वे ये हैं—(१) सृष्टि, (२) स्थिति, (३) संहार, (४) तिरोभाव तथा (५) अनुग्रह।

१—नित्या नाम कदाचिदपि भगवदभिमतविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसङ्कोच-प्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविष्वक्सेनादयः।

वही०, पृ० १२१

२—चिच्छक्तिर्विमला शुद्धा चिन्मय्यानन्दरूपिणी।
अनाद्यविद्याविद्धेयमित्थं संसरति ध्रुवम्॥
तथा अनाद्यविद्याविद्धानां जीवानाम् ... ...।

ल० तं०, ३।२६, ३३

३—सूर्यकोटिप्रतीकाशाः पूर्णेन्द्वयुतसंनिभाः।
यस्मिन् पदे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः॥

वही, १७।१५

४—वेधसो यत्र मोदन्ते शङ्कराः सपुरन्दराः।
सूरयो नित्यसंसिद्धाः सर्वदा सर्वदर्शिनः॥
... ...
अनन्तविहगेशानविष्वक्सेनादयोऽमलाः।
मदाज्ञाकारिणो यत्र मोदन्ते सकलेश्वराः।

वही, १७।१८–२२

नील, पीत आदि विषयों में जीव की जो वृत्ति होती है उसको सृष्टि कहते हैं। विषयों में जीव की आसक्ति को स्थिति कहते हैं। अन्य विषय को ग्रहण करने की इच्छा से ग्रहण किये गये विषय से जो विराम होता है उसे संहार कहा जाता है। ग्रहण किये गये विषय से विराम की वासना को जीव का तिरोभाव नामक कृत्य कहा गया है। तथा ग्रहण किये गये विषय से विराम की वासना के विलापन को अनुग्रह कहा गया है।[१]

●●

१—विधत्ते पञ्चकृत्यादि जीवोऽयमपि नित्यदा।
या वृत्तिर्नीलपीतादौ सृष्टिः सा कथिता बुधैः॥
सक्तिर्या विषये तत्र सा स्थितिः परिकीर्त्यते।
गृहीताद्विषयाद्योऽस्य विरामोऽन्यजिघृक्षया॥
सा संहृतिस्समाख्याता तत्त्वशास्त्रविशारदैः।
तद् वासना तिरोभावोऽनुग्रहस्तद्विलापनम्॥
वही, १३।२६-२९

पञ्चम अध्याय

मोक्ष और मोक्ष के उपाय

मोक्ष का स्वरूप

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।[1]

यहाँ प्रयुक्त सूरि शब्द का प्रायः विद्वान् आदि अर्थ किया जाता है,[2] किन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुसार सूरि शब्द का अर्थ है नित्यजीव । जीव तीन प्रकार के हैं, बद्ध, मुक्त और नित्य । नित्य-जीव वे हैं जिन्होंने कभी बन्धन का अनुभव नहीं किया । अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्य जीव सर्वदा

१—ऋग्वेद, १।२२।२०

२—इस श्रुति की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य का कथन है—

सूरयः विद्वांसः ऋत्विगादयः विष्णोः सम्बन्धि परमं उत्कृष्टं तत् शास्त्र-प्रसिद्धं पदं स्वर्गस्थानम् शास्त्रदृष्ट्या सर्वदा पश्यन्ति ।

वही, सायणभाष्य, १।२२।२०

ईश्वर के अनुकूल आचरण करने वाले तथा सर्वज्ञ हैं।[१] इन्हीं नित्य-जीवों को सूरि या नित्य-सूरि भी कहते हैं। वेदान्तदेशिक ने भी उपर्युक्त श्रुति में प्रयुक्त सूरि शब्द का अर्थ इसी प्रकार किया है।[२] श्रुति में प्रयुक्त परम पद का अर्थ सायण ने विष्णु से सम्बद्ध उत्कृष्ट स्वर्गस्थान किया है[३] किन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुसार इस शब्द का अर्थ वैकुण्ठ-लोक है। विष्णु के परम-पद की प्राप्ति मोक्ष है—अर्थात् इस अप्राकृत-देश-विशेष की प्राप्ति, परिपूर्ण आनन्द का अनुभव तथा उस देश से अपुनरावृत्ति ही मोक्ष है। इस श्रुति का लक्ष्मीतन्त्र में विस्तार किया गया है।[४] लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, सहस्रों पूर्ण चन्द्रमा के समान सांसारिक बन्धनों से मुक्त लोग जिस स्थान में विराजमान रहते हैं, इन्द्रिय आदि विकारों से रहित, आहार आदि से रहित, निर्मल तथा षाड्गुण्य शरीर वाले एकान्ती लोग जहाँ हमें (लक्ष्मीनारायण) देखते हैं। वहीं नित्य-सिद्ध सर्वदा सर्वदर्शी सूरिगण परम वैष्णव रूप का साक्षात्कार करते रहते हैं।[५]

१—नित्याः नाम कदाचिदपि भगवदभिमतविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसङ्कोच-प्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविष्वक्सेनादयः। तेषामधिकारविशेषाः ईश्वरस्य नित्येच्छयैव अनादित्वेन व्यवस्थिताः। एतेषामवतारास्तु भगवदवतारवद् स्वेच्छयैव।

यतीन्द्र०, पृ० १०७

२—अन्ये चानादिशुद्धाः श्रुतिसमधिगतास्सूरयस्सन्त्यसंख्याः।
कर्माभावादनादेर्न तु भवति कदाप्येषु संसारबन्धः॥

तत्त्वमुक्ताकलाप, जीव०, ६६

यहाँ प्रयुक्त श्रुतिसमधिगता का अर्थ करते हुए वेदान्तदेशिक उपर्युक्त श्रुति की ओर ही सङ्केत करते हैं—

श्रुतिसमधिगताः सदा पश्यन्ति इति श्रुत्या निर्बाधमधिगता इत्यर्थः।

सर्वार्थसिद्धि, जीव०—६६

३—ऋग्वेद, सायणभाष्य, १।२२।२०

४—तयोर्नो परमं व्योम निर्दुःखं पदमुत्तमम्।
षाड्गुण्यप्रसरो दिव्यः स्वाच्छन्द्योद्देशतां गतः॥

ल० तं०, १७।९

५—सूर्यकोटिप्रतीकाशाः पूर्णेन्दयुतसन्निभाः।

दूसरे शब्दों में परमात्मा का सतत अनुभव ही मोक्ष है। रामानुज समस्त पापों के नष्ट हो जाने पर प्राप्त होने वाले स्वाभाविक भगवदनुभव को ही मोक्ष कहते हैं।[1] तिङ्गल सम्प्रदाय के अनुसार कैवल्य ही मोक्ष है। परिशुद्ध आत्मा का अनुभव ही मोक्ष है। परिशुद्ध चित्तत्व या आत्मा के अनुभव से प्राप्त होने वाला सुख निश्चय ही विषयानन्द से उत्कृष्ट है। आत्मतत्त्व के अनुभव से प्राप्त होने वाले सुख के विषय में गीता का कथन है कि योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस योग में उपरत हो जाता है और जिसमें आत्मा के द्वारा आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि-ग्राह्य, इन्द्रियातीत तथा आत्यन्तिक सुख को इस योग में अनुभव करता है तथा इसमें स्थित होने पर वह फिर तत्त्व से विचलित नहीं होता। इस आत्मानुभव सुख को पाकर वह अन्य किसी लाभ को श्रेष्ठ नहीं मानता तथा भीषण दुःख से भी विचलित नहीं होता।[2] इसी आत्मानुभव को कैवल्य कहते हैं। यह

यस्मिन् पदे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः ॥
इन्द्रियच्छिद्रविधुरा द्योतमानाश्च सर्वतः।
अनिष्यन्दा अनाहाराः षाड्गुण्यतनवोऽमलाः ॥
एकान्तिनो महाभागा यत्र पश्यन्ति नौ सदा ॥
... ...
सूरयो नित्यसंसिद्धाः सर्वदा सर्वदर्शिनः।
वैष्णवं परमं रूपं साक्षात्कुर्वन्ति यत्र ते ॥

वही, १७।१५-१९

१—त्र्यन्तनिष्णातास्तु निखिलजगदेककारणस्याशेषहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञाना-नन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया प्रकारभूत-स्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादि-कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूपस्याविद्योच्छेदपूर्वकस्वाभाविकपरमात्मानुभव मेव मोक्षमाचक्षते।

श्रीभाष्य, १।२।१२

२—यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

अनुभव विषय सुख से रहित तथा ब्रह्मानुभव से भी रहित है।[1] भगवदनुभव से रहित नित्य आत्मानुभव को ही मोक्ष मानने वालों की आलोचना वेदान्त-देशिक ने यत्र तत्र की है। उनका कहना है कि कैवल्य को मोक्ष मानना रामानुज सम्प्रदाय के विरुद्ध तथा युक्तिरहित है। जब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जायगा तो स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होने से जीवों को ब्रह्मानुभव अवश्य होगा और कर्म के शेष रहने पर संसार से मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह कहा जाय कि कैवल्य में भगवदनुभव के प्रतिबन्धक कर्मों का नाश न होने से भगवदनुभव नहीं होता है तो ठीक है किन्तु वे प्रतिबन्धक कर्म भविष्य में में भी नष्ट न होंगे इसमें क्या प्रमाण है ?[2] अतः विषय सुख के सामने कैवल्य सुख उत्कृष्ट है किन्तु ब्रह्मानुभव से प्राप्त होने वाले सुख के समक्ष अत्यन्त निकृष्ट है। इस प्रकार कैवल्य केवल गौण मोक्ष है परमात्मानुभव से प्राप्त होने वाला सुख ही मुख्य मोक्ष है। विष्णुपुराण के अन्तर्गत आत्मानुभव करने वालों अर्थात् कैवल्य चाहने वालों का स्थान तथा परमात्मानुभव करने वाले मुमुक्षुओं का स्थान पृथक्-पृथक् बताते हुए कहा गया है कि आत्मानुभव से सन्तोष करने वाले कैवल्यार्थियों का स्थान अमृत है। एकान्ती ब्रह्मध्यान करने वाले योगियों का वही परम स्थान है, जिसका दर्शन

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।

भ० गी०, ६।२०-२२

१—अचिदनुभवादीश्वरानुभवाच्च विविक्तस्वरूपोऽनुभव इह तत्कैवल्यशब्देन विवक्षितः ।

गी० सं० २०, २७

२—केचित्तु ब्रह्मानुभववैमुख्येन नित्यमात्मानुभवमिच्छन्ति न तत्र भाष्यकारादिसम्प्रदायं युक्तिं वा पश्यामः । निश्शेषकर्मक्षये स्वाभाविकरूपाविर्भावेन ब्रह्मानुभवावश्यम्भावात्, कर्मयोगे तु संसारप्रसङ्गाच्च । जरामरणादिहेतुभूतसर्वकर्मविनाशादसंसारः, तावन्मात्रेण च मुक्तत्वव्यपदेशः, ब्रह्मानुभवप्रतिबन्धककर्मणस्त्वविनाशात्तदनुभवाभाव इति चेत्, अस्त्वेवम्, एतत्कर्मपरस्तादपि न नंक्ष्यतीत्यत्र न नियामकमस्ति ।

गी० ता० चं०, ८।२३, २४

सूरिगण करते रहते हैं।[1] इस कथन से ज्ञात होता है कि कैवल्यार्थियों का अमृत स्थान परम पद या मुख्य मोक्ष नहीं है। अनन्य होकर ब्रह्मध्यान करने-वाले योगियों को प्राप्त होने वाला स्थान ही परम पद है। वही मुख्य मोक्ष है। इस प्रकार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के दो वर्ग (तिङ्गलै तथा बड़गलै) मोक्ष के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। तिङ्गलै सम्प्रदाय के अनुसार आत्मानु-भव ही मुख्य मोक्ष है जब कि बडगलै सम्प्रदाय सतत परमात्मानुभव को मोक्ष मानता है। जहाँ तक लक्ष्मीतन्त्र का प्रश्न है आत्मानुभव के पक्ष में प्रमाण नहीं मिलते, किन्तु परमात्मानुभव के पक्ष में अनेक युक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[2]

मोक्षप्राप्ति की अवस्था में जीवात्मा परमात्मा के जिस स्वरूप का अनु-भव करता है उसका वर्णन भी लक्ष्मीतन्त्र में किया गया है। यद्यपि अर्चिरादि मार्ग का उल्लेख लक्ष्मीतन्त्र में नहीं है तथापि जीव ईश्वर के जिस स्वरूप का साक्षात्कार अर्चिरादि मार्ग द्वारा करता है ईश्वर के उसी रूप का वर्णन लक्ष्मीतन्त्र में किया गया है। संक्षेप में अर्चिरादि मार्ग का अर्थ यह है—ईश्वर के द्वारा ही अर्चिरादि मार्ग से जीव नित्यविभूति में प्रवेश कराया जाता है। अर्चिरादि मार्ग के अधिष्ठातृ देवता (अर्चि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् पुरुष, वरुण, इन्द्र, प्रजापति) मार्ग में

१—योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम्।
एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये।
तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः॥

विष्णुपुराण, १।६।३८, ३९

२—एकान्तिनो महाभागा यत्र पश्यन्ति नौ सदा।
... ...
सूरयो नित्यसंसिद्धाः सर्वदा सर्वदर्शिनः।
वैष्णवं परमं रूपं साक्षात्कुर्वन्ति यत्र ते॥

ल० तं०, १७।१७-१९

३—तत्र दिव्यवपुः श्रीमान् देवदेवो जनार्दनः।
अनन्तभोगपर्यङ्के निषण्णः ससुखोज्ज्वले।
विज्ञानैश्वर्यवीर्यस्थैः शक्तितेजोबलोल्वणैः॥
आयुधैर्भूषणैर्दिव्यैरद्भुतः समलङ्कृतः।

जीवात्मा का स्वागत करते हैं। इसके पश्चात् विरजा नदी आती है। इस विरजा नदी को पार करके जीव नित्यविभूति में प्रवेश करता है। यहीं वह नित्य जीवों तथा मुक्त जीवों के मध्य पहुँचता है। यहीं पर वह परिपूर्ण ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। यही मोक्ष या परम पद है। लक्ष्मीतन्त्र में इस अर्चिरादि मार्ग का उल्लेख नहीं है किन्तु अर्चिरादि मार्ग द्वारा जीव जिस परब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करता है वही स्वरूप लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार मुमुक्षु के लिए अनुभाव्य है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि अर्चिरादि मार्ग लक्ष्मीतन्त्र को इष्ट है। यद्यपि इस कल्पना में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

परम पद को प्राप्त कर लेने के बाद जीव अनवरत ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। उस आनन्द में कभी भी विच्छेद नहीं होता। पुनरावृत्ति भी नहीं होती।[1]

मोक्ष चार प्रकार का माना गया है—(१) सालोक्य, (२) सारूप्य, (३) सामीप्य तथा (४) सायुज्य। जिस दिव्य देश में ईश्वर निवास करता है उसी देश में निवास करना सालोक्य-मुक्ति कहलाती है। ईश्वर के समान ही रूप को धारण कर लेना सारूप्य-मुक्ति है। ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेना सामीप्य-मुक्ति कहलाती है। है। ईश्वर के समान आनन्द का अनुभव करना ही सायुज्य-मुक्ति कही जाती

पञ्चात्मना सुपर्णेन पक्षिराजेन सेवितः॥
आस्ते नारायणः श्रीमान् वासुदेवः सनातनः।
सुकुमारो युवा देवः श्रीवत्सकृतलक्षणः।
चतुर्भुजो विशालाक्षः किरीटी कौस्तुभं वहन्॥
हारनूपुरकेयूरकाञ्चीपीताम्बरोज्ज्वलः।
राजराजोऽखिलस्यास्य विश्वस्य परमेश्वरः॥
कान्तस्य तस्य देवस्य विष्णोः सद्गुणशालिनः।
दयिताहं सदा देवी ज्ञानानन्दमयी परा।
अनवद्यानवद्याङ्गी नित्यं तद्धर्मधर्मिणी॥

वही, १७।२२-३१

१—प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तंते पुनः।

अहिर्बु०, ३७।२६

है। वस्तुतः सायुज्य-मुक्ति ही वास्तविक[1] मुक्ति है। सायुज्य वास्तविक मोक्ष इसलिए है क्योंकि जीवात्मा सालोक्य, सारूप्य तथा सामीप्य मोक्ष को प्राप्त करने के बाद ही सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है। विरजा नदी को पार कर जीवात्मा नित्यविभूति में प्रवेश करता है जिसमें ईश्वर का निवास है। इस लोक में निवास करना ही जीवात्मा का सालोक्य-मोक्ष है। इस मुक्ति को प्राप्त करने के बाद मुक्तात्मा ईश्वर के समान ही विग्रह को धारण करता है। मुक्तात्मा का ईश्वर के समान रूप को धारण करना ही सारूप्य-मुक्ति कही जाती है। सारूप्य-मुक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् मुक्तात्मा ईश्वर के समीप पहुँचता है। इसी को सामीप्य मुक्ति कहते हैं। इन तीनों सालोक्य, सारूप्य, और सामीप्य मुक्ति को प्राप्त करने के बाद मुक्तात्मा ईश्वर के समान ही आनन्द का अनुभव करता है। इसी को सायुज्य-मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार सायुज्य-मुक्ति के अन्तर्गत अन्य मुक्तियाँ अन्तर्भूत हैं। अतः सायुज्य-मोक्ष ही मुख्य मोक्ष है अन्य तीनों प्रकार के मोक्ष गौण हैं। लक्ष्मीतन्त्र में सायुज्य को ही मोक्ष माना गया है। नामतः सायुज्य-मुक्ति का निर्देश नहीं है किन्तु परिपूर्ण ब्रह्मानुभव को मोक्ष मानने के कारण निश्चित हो जाता है कि लक्ष्मीतन्त्र में सायुज्य-मोक्ष का ही प्रतिपादन है।

मोक्ष के उपाय

लक्ष्मीतन्त्र के पन्द्रहवें, सोलहवें और सत्रहवें अध्यायों के अन्दर मोक्ष के उपायों का वर्णन है। मुमुक्षु के लिए पर-ब्रह्म को प्राप्त करने का विज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। यह ज्ञान विवेक से उत्पन्न होने वाला तथा वासुदेव मात्र विषय वाला है। यह ज्ञान अपुनरावृत्ति का कारण है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने में चार कारण है।[2] इन्हीं चार कारणों को मोक्ष के

१—मुक्तियों के विषय में प्रसिद्ध है—

लोकेषु विष्णोर्निऽवसन्ति केचित्
सामीप्यमिच्छन्ति च केचिदन्ये।
अन्ये तु रूपं स्दृशं भजन्ते
सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः।

सच्चरित्ररक्षा, पृ० ५२ पर उद्धृत

२—ब्रह्म नारायणं मां यज्ज्ञानेनाप्नुयाद्यतिः।
पन्था नान्योऽस्ति विज्ञानादयनाय विपश्चिताम्॥

उपाय या साधन कहा गया है।[1] मोक्ष के उपाय अधोलिखित हैं—

१—कर्म,
२—सांख्य,
३—योग तथा
४—न्यास।

१—कर्म

अपने वर्ण तथा आश्रम से सम्बद्ध कर्म को ही मोक्ष के उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवद्गीता इसकी पुष्टि करती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।[2]

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, तथा (३) काम्य। प्रतिदिन सायं तथा प्रातः कर्तव्य के रूप में किये जाने वाले कर्म नित्य हैं। यथा—'सायं जुहोति, प्रातर्जुहोति' आदि। निमित्त से किया जाने वाला कर्म नैमित्तक कर्म कहा जाता है। यथा—'अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्।' फल-विशेष की कामना से किये गये कर्म काम्य-कर्म कहे जाते हैं। यथा–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः,' 'वायव्यं श्वेतमालभेत

ज्ञानं तच्च विवेकोत्थं सर्वतः शुद्धमव्रणम्।
वासुदेवैकविषयमपुनर्भवकारणम् ॥
ज्ञाने तस्मिन् समुत्पन्ने विशते मामनन्तरम्।
तैस्तैरुपायैः प्रीताहं जीवानाममलात्मनाम् ॥
उद्भावयामि तज्ज्ञानमात्मज्योतिप्रदर्शकम्।
उपायास्ते च चत्वारो मम प्रीतिविवर्धनाः ॥

ल० तं०, १५।११-१४

१—उपायांश्चतुरः शक्र शृणु मत्प्रीतिवर्धनान्।
यैरहं परमां प्रीतिं यास्याम्यनपगामिनीम् ॥
स्वजातिविहितं कर्म सांख्यं योगस्तथैव च।
सर्वत्यागश्च विद्वद्भिरुपायाः कथिता इमे।

वही, १५।१६, १७

२—भ० गी०, १८।४५

भूतिकामः' । इन कर्मों को अकामहत कहा गया है ।[1] अकामहत कर्म का अर्थ है बिना कामना के किये जाने वाले कर्म । इस प्रकार काम्य कर्म का भी बिना कामना के अनुष्ठान स्वीकार किया गया है ।

कर्मों का सन्न्यास चार प्रकार का होता है — (१) मन्त्रोक्त देवता में, (२) प्रकृति में, (३) इन्द्रियों में अथवा (४) वासुदेव में ।[2] मन्त्रोक्त देवता आदि में कर्म का सन्न्यास बुभुक्षु लोग करते हैं तथा मुमुक्षु लोग कर्म का सन्न्यास वासुदेव में करते हैं । वासुदेव में सर्वप्रथम कर्तृत्व का सन्न्यास, अनन्तर फल का सन्न्यास तथा कर्मों का भी सन्न्यास करना चाहिए ।[3] गीता के तीसरे अध्याय के अन्दर प्रकृति के गुणों में या ईश्वर में कर्तव्य का न्यास करके कर्म करने का उपदेश किया गया है । प्रकृति में कर्तव्य का आरोप करने के विषय में गीता का कथन है कि सारे कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा ही किये जाते हैं किन्तु अहङ्कार से विमूढ आत्मा 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा समझता है । और जो तत्त्वज्ञ है वह 'प्रकृति के गुण ही अपने कार्यों में विद्यमान है' ऐसा जानकर 'मैं कर्ता हूँ' यह नहीं समझता ।[4]

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा[5]

वासुदेव में पूर्वोक्त सर्वप्रथम कर्तव्य का सन्न्यास, फिर फल का सन्न्यास

१—अकामहतसंसिद्धं कर्म तत् पूर्वसाधनम् ।

वही, १५।१९

२—चतुर्विधस्तु सन्न्यासः तत्र कार्यो विपश्चिता ।
मन्त्रोक्तदेवतायां वा प्रकृताविन्द्रियेषु वा ।
परस्मिन् देवदेवे वा वासुदेवे जनार्दने ॥

वही, १५।१९, २०

३—पूर्वं कर्तृत्वसन्न्यासः फलसन्न्यास एव च ।
कर्मणामपि सन्न्यासो देवदेवे जनार्दने ॥

वही, १५।२१

४—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

भ०गी०, ३।२७, २८

५—वही, ३।३०

और कर्म का सन्न्यास गीता की इस उक्ति का अर्थ प्रतीत होता है। गीता के इसी श्लोक पर रामानुज के भाष्य से लक्ष्मीतन्त्रोक्त वासुदेव में कर्तव्य के सन्न्यास का तथा गीता के प्रस्तुत श्लोक का भाव स्पष्ट हो जाता है। रामानुज का कथन है कि परमपुरुष, सर्वशेषी, सर्वेश्वर अपने जीवात्मा रूप कर्ता के द्वारा अपने ही उपकरणों से अपनी ही आराधना के लिए स्वयमेव अपना कर्म करवाता है।[1] चार प्रकार के सन्न्यास लक्ष्मीतन्त्र की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार शास्त्रोक्त नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों को करता हुआ ईश्वर के आराधन का इच्छुक ईश्वर को सदा के लिए प्रसन्न कर लेता है।[2]

२—सांख्य

मोक्ष का दूसरा उपाय है—सांख्य अर्थात् ज्ञान। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार सांख्यशास्त्र में कही गयी संख्याओं अर्थात् ज्ञान के तीन प्रकार हैं—

(१) लौकिकी संख्या

(२) चर्चनात्मिका संख्या,

(३) समीचीना धी।

इन तीन संख्याओं अर्थात् ज्ञानों के समूह को सांख्य कहा जाता है।[3]

(१) लौकिकी संख्या

लौकिक विषयों से सम्बद्ध संख्या या ज्ञान को लौकिकी संख्या कहते हैं। सांख्यदर्शन में प्रतिपादित पञ्चविंशति तत्त्वों का ज्ञान तथा ईश्वर का ज्ञान इस कोटि में आता है। सांख्य दर्शन का ही विषय लक्ष्मीतन्त्र में अपने ढंग से

१—स्वकीयेनात्मना कर्त्रा स्वकीयैश्चोपकरणैस्स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषस्सर्वशेषी सर्वेश्वरः स्वयमेव स्वकर्माणि कारयति।

गी०भा०, ३।३०

२—ल०तं०, १५।२२

३—संख्यास्तिस्रो हि मन्तव्याः सांख्यशास्त्रनिदर्शिताः।
प्रथमा लौकिकी संख्या द्वितीया चर्चनात्मिका ॥
समीचीना तु या धीः सा तृतीया परिपठ्यते।
संख्यात्रयसमूहो यः सांख्यं तत्परिपठ्यते ॥

वही, १५।२४, २५

प्रस्तुत किया गया है। यथा–तत्त्व दो प्रकार के हैं–१–चित्तत्व, २–अचित्तत्व। अचित्तत्व प्रकृति ही है। प्रकृति आठ प्रकार की है—१—पृथिवी, २—जल, ३—तेज, ४—वायु, ५—आकाश, ६—अहङ्कार, ७—महान्, और ८–प्रकृति[1] गीता में भी यही आठ प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं।[2] लक्ष्मीतन्त्र में इन आठों प्रकृतियों का सांख्यदर्शन के साथ समन्वय किया गया है। इन्हीं प्रकृतियों की एक एक करके व्याख्या की गयी है।

प्रकृति के अन्य तीन प्रकार बताते हुए कहा गया है कि १—माया, २—प्रसूति तथा ३—गुणात्मिका नामक भेदों से प्रकृति त्रिविधा है।[3] यद्यपि प्रकृति सूक्ष्म ही है तथापि उसी में सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ये तीन भेद हो जाते हैं। इनमें माया सूक्ष्मतम है। निःसक्त होते हुए भी आसक्त, अद्वैत, निश्चल, और अनश्वर जो अचेतनों की परम सूक्ष्मता है उसे माया कहते हैं तथा तीनों गुणों का उन्मेष होने पर इसे गुणात्मिका कहते हैं। अव्यक्त, अक्षर, योनि, अविद्या, त्रिगुणा, स्थिति, माया, स्वभाव–यह प्रकृति के अवान्तर भेदों को मिलाकर पर्यायवाची शब्द हैं।[4] प्रकृति के तीन गुण होते हैं १–सत्त्व, २–रजस्, ३–तमस्। इनमें सत्त्व गुण लघु, सुख रूप तथा अचञ्चल होता है। चैतन्य का उन्मेष कराने वाला प्रकाश इसका स्वभाव है।[5] रजो गुण भी लघु

१—पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
अहङ्कारो महांश्चैव प्रकृतिः परमा तथा॥
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ ...   ॥
वही, १५।२६, २७

२—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
भ०गी०, ७।४

३—प्रकृतिस्त्रिविधा प्रोक्ता मायासूतिर्गुणात्मिका॥
ल०तं०, १५।२७

४—अव्यक्तमक्षरं योनिरविद्या त्रिगुणा स्थितिः।
माया स्वभाव इत्याद्याः शब्दाः पर्यायवाचकाः
वही, १५।३०

५—तत्र सत्त्वं लघु ज्ञेयं सुखरूपमचञ्चलम्।
प्रकाशो नाम तद् वृत्तिश्चैतन्योद्ग्रहणात्मकः॥
वही, १५।३१, ३२

होता है किन्तु दुःखरूप और चञ्चल है। प्रवृत्ति इसका स्वभाव है। तमो गुण गुरु, मोहरूप और चञ्चल है। स्वापन लक्षण वाला बन्धन ही इसका स्वभाव है। इन्द्रिय तथा विषयों में स्थित ये गुण चित्त पर अधिष्ठित होकर सुख, दुःख और मोह को उत्पन्न करते हैं। गुण ही कर्म करते हैं ऐसी जिस की बुद्धि हो जाती है वह गुणों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है तथा उनकी वैषम्यावस्था ही महान् है। महान् तीन प्रकार का होता है १—सात्त्विक, २—राजस तथा ३—तामस। सात्त्विक महान् बुद्धि है, राजस महान् प्राण, तथा तामस महान् काल है। अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान का कारण बुद्धि है, प्राण प्रयत्न का तथा काल परिणाम का कारण है।[1]

महान् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। यह अहङ्कार भी तीन प्रकार का है —(१) सात्त्विक, २—राजस तथा ३—तामस। तामस अहङ्कार से आकाश आदि पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। सात्त्विक अहङ्कार से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। राजस अहङ्कार से पांच कर्मेन्द्रियाँ, तथा सात्त्विक और राजस दोनों से मन की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार प्रकृति एक, सबकी मूलभूत तथा अनादि है। महान्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र कार्य और कारण दोनों हैं। पञ्चतन्मात्रों से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन यह सोलह विकार हैं। इस प्रकार चौबीस तत्त्व होते हैं।[3] प्रकृति अपने तेइस विकारों से समन्वित है। यह साम्यावस्था में अव्यक्त तथा परिणति अवस्था में व्यक्त होती है। इसे अचित् तत्त्व कहते हैं।

१—वही, १६।२-४

२—वही, १६।५, ६

३—अत्र प्रकृतिरेकैव मूलभूता सनातनी।
महदाद्यास्तु सप्तान्ये कार्यकारणरूपिणः॥
तन्मात्रेभ्यः समुद्भूता विशेषा वियदादयः।
बुद्धिकर्मेन्द्रियगणा पञ्चकौ मन एव च॥
विकारा एव विज्ञेया एते षोडशचिन्तकैः।
चतुर्विंशतिरेतानि तत्त्वानि कथितानि ते॥

वही, १६।७—१०

चित् तत्त्व के दो भेद होते हैं, १–जीव, २–ईश्वर। इस प्रकार प्रकृति या अचित् तत्त्व के चौबीस और चित्तत्त्व के दो भेद मिलाकर छब्बीस तत्त्व हुए।

यह लोकविषयक ज्ञान है। इसी कारण इसे लौकिकी संख्या कहते हैं। तत्त्वों को सर्वप्रथम (१) अचित् तत्त्व और (२) चित् तत्त्व में विभाजित करके अचित् तत्त्व के चौबीस तथा चित् तत्त्व के दो भेद; कुल मिलाकर छब्बीस प्रकार के तत्त्वों का परिशीलन इस कोटि में किया जाता है। इसे निम्न सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—
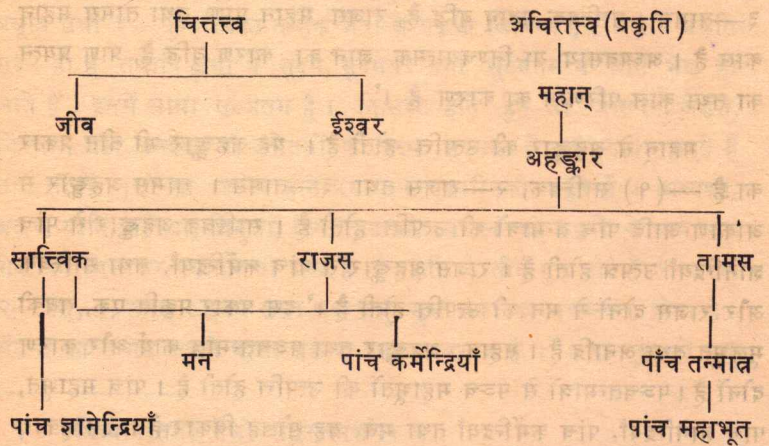
(मन की उत्पत्ति सात्त्विक और राजस दोनों अहङ्कारों से होती है)

(२) चर्चनात्मिका संख्या

प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य और वैधर्म्य का पुनः पुनः परिशीलन करना ही चर्चनात्मिका संख्या है। प्रकृति और पुरुष दोनों स्वभावतः असक्त होते हुए भी सक्त के समान स्थित होते हैं। दोनों ही लिङ्गग्राह्य हैं अर्थात् अनुमेय हैं। दोनों ही नित्य तथा अलिङ्ग हैं। यही प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य हैं।[1]

१—इमौ स्वरसतोऽसक्तौ सक्तात्मानाविव स्थितौ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव महद्भ्यश्च महत्तरौ॥
लिङ्गग्राह्यावुभौ नित्यावलिङ्गौ चाप्युभावपि।
साधर्म्यमेवमाद्येवमनयोरुन्नयेद् बुधः॥

वही, १६।१५, १३

१—दोनों स्वभावतः असक्त होते हुए भी सक्त के समान स्थित होते हैं,

२—दोनों लिङ्गग्राह्य हैं,

३—दोनों नित्य हैं तथा

४—दोनों अलिङ्ग हैं।

प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य का विवेचन करने के पश्चात् इन दोनों के वैधर्म्य का निरूपण भी सांख्य दर्शन के अनुसार किया गया है।[1] लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित वैधर्म्य इस प्रकार है—

प्रकृति	पुरुष
१—त्रिगुणा	निर्गुण
२—परिणामिनी	अपरिणामी
३—अविवेका	विवेकी
४—सामान्या	असाधारण (प्रतिपिण्ड विभिन्न)
५—विषय	अविषय
६—अचेतना	चेतन

(३) समीचीना धी

तीसरी संख्या का नाम है—समीचीना धी। तत्त्व-गणना का सम्यक् परिशीलन करने के बाद प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य और वैधर्म्य का पुनः पुनः परिशीलन करना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः परिशीलन करने से समीचीन-संख्या का उदय होता है। यही परम संख्या या परम ज्ञान

१—वैधर्म्यमनयोः शक्र कथ्यमानं निबोध मे।
प्रकृतिस्त्रिगुणा नित्यं सततं परिणामिनी॥
अविवेकाप्यशुद्धा च सर्वजीवसमा सदा।
विषयोऽचेतना चैव सुखदुःखविमोहिनी॥

वही १६।१७, १८

द्रष्टव्य—

त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

सां० का०, ११

है। यह संख्या नामक मोक्ष का द्वितीय उपाय है।[1]

३—योग

मोक्ष प्राप्ति का तीसरा उपाय है—योग। योग दो प्रकार का होता है[2]:

(१) समाधि
(२) संयम

उत्थान से रहित यम आदि अङ्गों से उत्पन्न होने वाली परब्रह्म में स्थिति को ही समाधि कहते हैं। यम आदि अङ्गों का अभिप्राय योग-दर्शन में स्वीकृत अष्टाङ्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) से ही है। ध्यान, ध्याता और ध्येय के विभाग से रहित, ब्रह्म-ज्ञानियों की यह साक्षात्कारमयी स्थिति ईश्वर की प्रसन्नता से ही उत्पन्न होती है।[3] ईश्वर को लक्ष्य में रख कर किया जाने वाला सत्कर्म ही संयम है। संयम भी दो प्रकार का कहा गया है—

(१) शारीरिक
(२) मानसिक

सम्भवतः संयम के इन दो भेदों को अधिक स्पष्ट समझ कर लक्ष्मीतन्त्र में इनकी व्याख्या नहीं की गयी है।

मोक्ष के इन तीनों उपायो (कर्म, ज्ञान और भक्ति) में कार्यकारण का सम्बन्ध है।

१—या तत्त्वगणना संख्या तां पुरा शीलयेद् बुधः।
ततः साधर्म्यवैधर्म्यस्वरूपप्रभवादिकम्॥
कुर्याच्चर्चात्मिकां संख्यां शास्त्रतत्त्वोपदेशजाम्।
चर्चायामिह संख्यायां सिद्धायाममलात्मनि॥
उदेति या समीचीना संख्या सत्तत्त्वगोचरा।
एषा सा परमा संख्या मत्प्रसादसमुद्भवा॥

ल०तं०, १६।२६, २८

२—योगस्तु द्विविधः प्रोक्तः समाधिः संयमस्तथा।

वही, १३।६०

३—वही, १६।२१, ३२

कर्म से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति होती है।[1] लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि ईश्वर कर्म नामक उपाय से प्रसन्न हो कर बुद्धि-योग को प्रदान करता है। जिसको सांख्य-योग नामक द्वितीय उपाय कहा गया है। शास्त्रजन्य होने के कारण यह परोक्ष निर्णय (ज्ञान) जब दृढता को प्राप्त हो जाता है तो प्रत्यक्षता को प्राप्त करता हुआ वह ईश्वर को प्रसन्न करता है। जब वह ईश्वर को स्वरूप, गुण आदि वैभवों से जान लेता है तो उसे विवेकजन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त होता है। इसी को तृतीय उपाय का प्रथम प्रकार अर्थात् समाधि कहते हैं।[2] तीसरे उपाय अर्थात् भक्ति का दूसरा प्रकार संयम है। तीनों प्रकार के भोगों से उत्पन्न हुआ यह भगवान् की अत्यन्त प्रीति का कारण है। इसमें विष्णु-शक्ति लक्ष्मी तथा नारायण आराध्य हैं।[3]

इस प्रकार लक्ष्मीतन्त्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति नाम के तीन उपायों का विधान किया गया हैं। किन्तु ये तीनों उपाय चतुर्थ न्यास नामक उपाय के समक्ष महत्त्वहीन हो जाते हैं। क्योंकि तीनों उपाय समय-सापेक्ष तथा दुष्कर हैं। इसके विपरीत न्यास सुकर तथा अविलम्ब फल देने वाला होता है।

४—न्यास

मोक्ष प्राप्ति का चतुर्थ उपाय है न्यास। पूर्वोक्त कर्म, सांख्य तथा योग नाम के तीनों उपायों में असमर्थ लोगों के लिए न्यास-योग नामक चतुर्थ उपाय का वर्णन किया गया है। इसी को निक्षेप, सन्न्यास, त्याग और शरणागति भी कहते हैं।[4] न्यास के विषय में गीता का निम्नलिखित वचन प्रायः प्रमाण माना जाता है:–

१—स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म .... ॥
गी०सं०, १

२—ल०तं० १३।३५—३८
तथा द्रष्टव्य—तृतीयस्तु समाध्यात्मा प्रत्यक्षे विप्लवो दृढः ।
प्रकृष्टसत्त्वसम्भूतः प्रसादातिशयो हि सः ।।
वही, १३।३९

३—वही, १६।४०, ४१

४—निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[1]

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इस श्लोक को शरणागति मन्त्र या चरममन्त्र भी कहा जाता है। लक्ष्मीतन्त्र में प्रायः इसी शैली में उक्त अर्थ अर्थात् शरणागति का विधान किया गया है।[2]

ब्रह्मविद्या

न्यास योग उपनिषदों में प्रतिपादित एक ब्रह्मविद्या है। उपनिषदों में जहाँ ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा उनके परस्पर सम्बन्ध आदि का विवेचन है वहीं ब्रह्मानुभव की साधनभूत बत्तीस ब्रह्मविद्याओं का भी वर्णन है[3] जिनका अभ्यास मुमुक्षु लोगों को करना चाहिए। इन ब्रह्मविद्याओं को उपासना भी कहते हैं। इनमें न्यास भी एक ब्रह्मविद्या है। इसका प्रतिपादन करने वाली

संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि ॥

वही, १७।७५

१—भ०गी० १८।६६

२—तत्र धर्मान् परित्यज्य सर्वानुच्चावचाङ्गकान् ।
संसारानलसंतप्तो मामेकां शरणं व्रजेत् ॥
अहं हि शरणं प्राप्ता नरेणानन्यचेतसा ।
प्रापयाम्यात्मनात्मानं निर्धूताखिलकल्मषम् ॥

ल०तं० १३।४३, ४४

३—बतीस ब्रह्मविद्याएं निम्नलिखित हैं :—

१—अक्षरविद्या	१०—उषस्तिकविद्या
२—अक्षिस्थ सत्यब्रह्मविद्या	११—गायत्रीविद्या
३—अङ्गुष्ठप्रमितविद्या	१२—गार्ग्यक्षरविद्या
४—अन्तरादिविद्या	१३—ज्योतिषां ज्योतिर्विद्या
५—आकाशविद्या	१४—त्रिमात्रप्रणवविद्या
६—आनन्दमयविद्या	१५—दहरविद्या
७—ईशावास्यविद्या	१३—नाचिकेतविद्या
८—उद्दालकान्तर्यामिविद्या	१७—न्यासविद्या
९—उपकोसलविद्या	१८—पञ्चाग्निविद्या

दो श्रुतियां हैं।[1]

पाञ्चरात्र साहित्य के अन्दर इस न्यासविद्या का विशद वर्णन है। मोक्ष के अन्य तीन उपाय तो केवल गणना के लिए हैं। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय मुख्य रूप से मोक्ष का उपाय न्यास या शरणागति को ही मानता है। लक्ष्मी-तन्त्र में इसी विषय का वर्णन है।

न्यास की आवश्यकता

प्रश्न उठता है कि अन्य तीन प्रकार के मोक्ष के उपायों के होते हुए इस चौथे उपाय की क्या आवश्यकता थी? अथवा उन सभी उपायों के सामने इस उपाय में कितनी सामर्थ्य है? जहाँ तक कर्म, सांख्य तथा योग नामक उपायों की उपयोगिता का प्रश्न है, यह कहा गया है कि शीघ्रता से बीतते हुए समय के कारण उन उपायों का अनुष्ठान सम्भव नहीं है, अर्थात् यह सभी उपाय

१९—परंज्योतिर्विद्या
२०—पर्यङ्कविद्या
२१—प्रतर्दनविद्या
२२—प्राणविद्या
२३—बालाकिविद्या
२४—भूमविद्या
२५—मधुविद्या
२६—मैत्रेयीविद्या
२७—वैश्वनरविद्या
२८—व्याहृतिविद्या
२९—शाण्डिल्यविद्या
३०—संवर्गविद्या
३१—सत्यकामविद्या
३२—सद्विद्या

१—वे श्रुतियां निम्नलिखित हैं—

(१) वसुरण्यो विभूरसि प्राणे त्वमसि संधाता ब्रह्मन् त्वमसि विश्वधृत्ते-जोदास्त्वमस्यग्निरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयाम गृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वामहम् ओमित्यात्मानं युञ्जीत।

नारायणीयोपनिषत्, ७९

(२) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं।
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

श्वेत० उ०, ६।१८

समयसाध्य हैं। यह काल स्वयं व्यतीत होता हुआ जीवों के ज्ञान, सत्त्व, बल, और आयु को नष्ट करता है। अन्तःकरण में निवास करने वाली विविध प्रकार की वासनाएं काल के वश में होकर शरीरियों को यातना पहुँचाती हैं।[१] अतः एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है जो सुकर तथा शीघ्र फल प्रदान करने वाला हो।[२] इस प्रकार के उपाय के रूप में शरणागति, प्रपत्ति, निक्षेप, न्यास या सन्यास नामक उपाय का उपदेश किया गया है। कर्मयोगी, ज्ञानयोगी तथा भक्तियोगी सभी शरणागत के समक्ष नगण्य हैं।[३]

लक्ष्मीतन्त्र में कई स्थलों पर कर्म, ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा प्रपत्ति की महिमा का गान किया गया है।[४] अतः मुख्य उपाय तो न्यास ही है, अन्य तीन उपाय उतने महत्त्वपूर्ण नहीं।

षड्विधा शरणागति

शरणागति नामक चतुर्थ उपाय के छह अङ्ग होते हैं।[५] वे अङ्ग अधोलिखित हैं—

१—आनुकूल्य-सङ्कल्प,

१—ल० तं०, १७।५०-५३

२—येन त्वं बत संरब्धः प्राणिनः लालयिष्यसि।
प्रब्रूहि तमुपायं मे प्रणतायै जनार्दन॥
वही, १७।५४

३—सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि॥
वही, १७।६३

४—उपायाः क्रियमाणास्ते नैव स्युस्तारका मम।
तथा—
उपायाश्चोदिताः शास्त्रैर्न मे स्युस्तारकास्त्रयः।
वही, २८।१३, ५०।२१६

५—षडङ्गं तमुपायं च शृणु मे पद्मसम्भवे।
आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
वही, १७।५९-६१

२—प्रातिकूल्य-वर्जन,
३—ईश्वर रक्षा करेगा—यह विश्वास,
४—रक्षक के रूप में ईश्वर का वरण,
५—आत्मनिक्षेप और
६—कार्पण्य ।

छह अङ्गों वाली शरणागति में पञ्चम आत्मनिक्षेप अङ्गी तथा शेष पाँच अङ्ग हैं । शरणागति के लिए इन अङ्गों की अत्यन्त आवश्यकता है । इनके बिना शरणागति पूर्ण नहीं हो पाती । यह अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध अट्ठाइसवें अध्याय में स्पष्ट हो जाता है जहाँ पर प्रपत्ति को पांच अङ्गों से युक्त कहा गया है ।[1] यद्यपि 'षडङ्गं तमुपायम्'[2] तथा 'षड्विधा शरणागतिः'[3] जैसी उक्तियों के पश्चात् प्रपत्ति को पाँच अङ्गों से युक्त कहने में कुछ विरोध सा दिखाई देता है परन्तु वस्तुतः विरोध नहीं है । अङ्ग पाँच हैं तथा एक अङ्गी है । अङ्ग तथा अङ्गी दोनों को मिलाकर 'षड्विधा शरणागतिः' आदि उक्तियां कही गयी हैं ।

१. आनुकूल्य-संकल्प

मैं सदैव ईश्वर के अनुकूल आचरण करूंगा—ऐसे सङ्कल्प को ही आनुकूल्य-सङ्कल्प कहते हैं । किन्तु यह ईश्वर के अनुकूल रहने का भाव (ईश्वरानुकूलता) तब तक असम्भव है जब तक सर्वभूतानुकूलता अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति अनुकूल रहने का भाव नहीं उत्पन्न होता है । सर्वभूतानुकूलता को अधिक महत्त्व प्रदान करने का कारण यही है कि ईश्वर ही सभी प्राणियों के अन्दर स्थित हैं अर्थात् अन्तर्यामिरूप में विद्यमान है । इसी कारण ईश्वर की भाँति शरणागत को सभी प्राणियों में अनुकूलता का आचरण करना चाहिए । न केवल शेषी ईश्वर के प्रति ही अनुकूलता का आचरण करना चाहिए, अपितु उसके शेषभूत सभी प्राणियों के प्रति भी अनुकूलता का आचरण

१—प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वाङ्गैः पञ्चभिरन्विताम् ।
वही, २८।११

२—वही, १७।५९

३—वही, १७।६१

करना चाहिए ।[१]

२. प्रातिकूल्य-वर्जन

शरणागति का दूसरा अङ्ग है—प्रतिकूल आचरण का त्याग । प्रतिकूल आचरण न करने का सङ्कल्प ही इस अङ्ग का अभिप्राय है । जिस प्रकार आनुकूल्य-सङ्कल्प का अर्थ है—ईश्वर के प्रति अनुकूल आचरण के समान ही सभी प्राणियों के प्रति अनुकूलता का आचरण; उसी प्रकार प्रातिकूल्य-वर्जन का भी तात्पर्य है—शेषी ईश्वर के प्रति प्रातिकूल्य-वर्जन अर्थात् प्रतिकूलता के आचरण का त्याग तथा उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति भी प्रतिकूलता का त्याग ।[२]

३. 'ईश्वर रक्षा करेगा'–यह विश्वास

ईश्वर हमारी रक्षा करेगा, ऐसा दृढ विश्वास ही शरणागति का चतुर्थ अङ्ग हैं । इसे महाविश्वास कहते हैं ।[३] इस अङ्ग की विशेषता इस कारण है कि जब तक पुरुष अपनी रक्षा का भार ईश्वर को नहीं सौंप देता तब तक शरणागति का कोई अर्थ नहीं है । और अपनी रक्षा के भार का न्यास महाविश्वास पूर्वक ही सम्भव है, क्योंकि महाविश्वास के अभाव में वह अपनी रक्षा के विषय में निर्भर नहीं हो सकता जब कि भरन्यस्त पुरुष को सर्वथा निश्चिन्त हो जाना चाहिए । इस कारण महाविश्वास की शरणागति में अत्यन्त आवश्यकता है ।[४]

१—आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता ।
अन्तःस्थिताऽहं सर्वेषां भावानामिति निश्चयात् ॥
मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकूल्यं समाचरेत् ।
वही, १७।६६, ६७

२—मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकूल्यं समाचरेत् ।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत ॥
वही, १७।६७

३—अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
नि० र० में उदाहृत

४—भक्तेः सूपसदत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात् ।
ईशेशितव्यसम्बन्धादनिदंप्रथमादपि ॥

४. गोप्तृत्व-वरण

ईश्वर के गोप्ता या रक्षक के रूप में वरण को ही गोप्तृत्व-वरण कहते हैं। जब मुमुक्षु अपनी रक्षा के लिए स्वयं ईश्वर से प्रार्थना करता है उस स्थिति में ही ईश्वर उसकी रक्षा करता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वकृत् तथा परम कारुणिक भी है; इस कारण वह स्वयं जान सकता है कि किसे करुणा की आवश्यकता है तथा करुणापूर्वक उसकी रक्षा भी कर सकता है; तो फिर रक्षा करने के लिए उसे प्रार्थना की अपेक्षा क्यों होती है ? वही व्यक्ति रक्षा कर सकता है जिसमें ये तीन गुण हों—(१) ज्ञान, (२) शक्ति तथा (३) करुणा। इन गुणों के अभाव में कोई भी पुरुष किसी की रक्षा नहीं कर सकता। ईश्वर में ये तीनों गुण विद्यमान् हैं। अतः ईश्वर रक्षा करने में सक्षम है। फिर किस कारण ईश्वर को रक्षा करने के लिए प्रार्थना की प्रतीक्षा होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है—

सर्वज्ञो हि विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन्।
संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षामपेक्षते ॥[1]

अर्थात् सर्वज्ञ, विश्वेश तथा कारुणिक होते हुए भी ईश्वर संसार तन्त्र का वहन करने के लिए अथवा लीला-विभूति के निर्वाह के लिए रक्षा की अपेक्षा करता है। क्योंकि यदि स्वेच्छा से वह किसी की रक्षा अथवा अरक्षा करता है तो उसे वैषम्यनैर्घृण्य दोष की प्राप्ति होती है और बिना किसी अपेक्षा के सभी की रक्षा कर देने पर धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय तथा कृत्य और अकृत्य का सङ्कर हो जायगा। अतः रक्षा के लिए प्रार्थना की अत्यन्त आवश्यकता है। गोप्तृत्व का लक्षण है कि ईश्वर करुणावान्, समर्थ तथा प्राणियों का स्वामी होता हुआ भी प्रार्थना के बिना रक्षा नहीं करेगा। इस प्रकार प्रार्थनाबुद्धि वाले पुरुष के रक्षित होने को गोप्तृत्व वरण कहते हैं।[2]

रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः।
सविश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतिनाशन।
ल० तं०, १७।७०-७२

१—वही, १७।७९, ८०

२—करुणावानपि व्यक्तं शक्तः स्वाम्यपि देहिनाम्।

५. आत्म-निक्षेप

शरणागति में यह आत्मसमर्पण ही अङ्गी है तथा आनुकूल्य-सङ्कल्प आदि इसके पांच अङ्ग हैं। लक्ष्मीतन्त्र में आत्म-निक्षेप का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि ईश्वर के द्वारा संरक्षित पुरुष का फल में स्वामित्व का अभाव तथा ईश्वर के प्रति उस फल के समर्पण को ही आत्मनिक्षेप कहते हैं।[1] आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण, आत्मन्यास, आत्महविस्, आत्मसन्यास, आत्मत्याग तथा आत्मनिक्षेप आदि शब्दों का यही तात्पर्य है। आत्मा और आत्मीय का भरन्यास ही आत्मनिक्षेप है। जैसा कि कहा गया है—

आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते।[2]

स्वरूप, फल और उपाय, इन तीनों के समर्पण को शरणागति कहते हैं। मैं मेरा नहीं हूँ, मैं ईश्वर का हूँ, जब मैं स्वयं मेरा नहीं हूँ तब अन्य कोई वस्तु किस प्रकार मेरी हो सकती है। इस प्रकार के अनुसन्धान को स्वरूप-समर्पण कहते हैं। जब वह यह समझता है कि प्राप्त फलों का स्वामी मैं नहीं हूं, ईश्वर ही उन फलों का भोक्ता है, तब इस प्रकार के ज्ञान को फल-समर्पण कहते हैं। शरणागत केवल इतना ही नहीं करता, अपि तु रक्षा का भार भी समर्पित कर देता है। वह स्वयं तो रक्षा के उपायों में अशक्त है, इस कारण वह यह दायित्व भी ईश्वर को सौंप देता है। इसको भार समर्पण कहते हैं। इन तीनों प्रकार के समर्पणों को वेदान्तदेशिक ने इस प्रकार कहा है—'मैं, मेरी रक्षा का भार तथा मेरी रक्षा का फल मेरा न होकर ईश्वर का ही है।' इस प्रकार आत्म-समर्पण करना चाहिए।[3]

अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थनामतिः।
गोपायित्वा भवत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्॥

वही, १७।७२, ७३

१—तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते॥

वही, १७।७४

२—वही, १७।८०

३—अहं मद्रक्षणभरो मद्रक्षणफलं तथा।
न मम श्रीपतेरेवेत्यात्मानं निक्षिपेद्बुधाः।

न्या० द०, १

तथा—

(६) कार्पण्य

शरणागति का अन्तिम अङ्ग है—कार्पण्य। अपनी अकिञ्चनता या साधन-हीनता का अनुसन्धान अथवा गर्वहानि को कार्पण्य कहते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन मोक्ष के साधन हैं। इन तीनों मोक्ष के साधनों में अशक्त होने के कारण अगति जीव को अकिञ्चन कहा जाता है। ईश्वर के समक्ष इसी अकिञ्चनता तथा साधनहीनता का निवेदन करना ही कार्पण्य है।[1] लक्ष्मीतन्त्र में कार्पण्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि गर्व के त्याग को ही कार्पण्य कहते हैं। अङ्गभूत सामग्री के न होने से, कर्म में अशक्त होने से, देश-काल तथा गुणक्षय होने से और अधिकार के सिद्ध न होने से कर्म, ज्ञान और भक्ति नाम के उपाय सिद्ध नहीं होते हैं। साथ ही अपाय भी बहुत हैं। इस प्रकार की जो गर्व-हानि है, उसी दीनता को कार्पण्य कहते हैं।[2]

यामुनाचार्य का निम्नलिखित श्लोक उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य है—

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं
सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधी-
रथवा किं नु समर्पयामि ते॥

स्तो० र०, ५३

१—यामुनाचार्य का अधोलिखित श्लोक इसका उदाहरण है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्तव चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

स्तो० र०, २२

२—त्यागो गर्वस्य कार्पण्यं श्रुतशीलादिजन्मनः।
अङ्गसामग्र्यसम्पत्तेरशक्तेरपि कर्मणाम्॥
अधिकारस्य चासिद्धेर्देशकालगुणक्षयात्।
उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया बहुलास्तथा॥
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते॥

ल० तं०, १७।६८-७०

इस प्रकार से लक्ष्मीतन्त्र में प्रपत्ति या शरणागति के छह अङ्गों का वर्णन किया गया है।[१]

षडङ्गों का उपकारकत्व

लक्ष्मीतन्त्र के कतिपय श्लोकों द्वारा इन सभी अङ्गों की उपकारकता बताते हुए कहा गया है कि शरणागत को ईश्वर की इच्छा के अनुकूल आचरण करना चाहिए। इसे आनुकूल्य-सङ्कल्प कहते हैं। उसे ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। इसे प्रातिकूल्य-वर्जन कहते हैं। इन दोनों सङ्कल्पों का उपकारकत्व यही है कि वह अपायों से विरत हो जाता है। अपनी अकिञ्चनता या कार्पण्य के अनुसन्धान का उपकारकत्व यही है कि वह उपायों से भी विरत हो जाता है। ईश्वर मेरी रक्षा करेगा, इस महाविश्वास की उपकारकता यह है कि वह अपने अभीष्ट उपाय की कल्पना कर लेता है। शरणागति का पाँचवाँ अङ्ग है—गोप्तृत्ववरण। रक्षक बनने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना ही गोप्तृत्व-वरण है। यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ है, विश्वेश है तथा कारुणिक भी है तथापि संसारतन्त्र के वहन के लिए वह रक्षा की अपेक्षा की प्रतीक्षा करता है। इस कारण गोप्तृत्व-वरण की उपकारकता है। इन पांच अङ्गों का अङ्गी है आत्मनिक्षेप। आत्मा तथा आत्मीय के भरन्यास को आत्मनिक्षेप कहते हैं।[२] इससे स्वरूप, फल तथा भर इन तीनों

१—वेदान्तदेशिक ने निम्नलिखित श्लोक में इन छहों अङ्गों का वर्णन किया है—

अत्यन्ताकिञ्चनोऽहं त्वदपचरणतस्सन्निवृत्तोऽद्य नाथ।
त्वत्सेवैकान्तधीस्स्यां त्वमसि शरणमित्यध्यवस्यामि गाढम्।
त्वं मे गोपायितास्स्यास्त्वयि निहितभरोऽस्म्येवमित्यर्पितात्मा
यस्मै सन्यस्तभारस्सकृदिति तु सदा न प्रपद्येत्तदर्थम्॥

न्या० वि०, १८

यहाँ 'अत्यन्ताकिञ्चनोऽहं' से आकिञ्चन्य या कार्पण्य, 'त्वदपचरणतस्सन्निवृत्तः' से प्रातिकूल्य-वर्जन, 'त्वत्सेवैकान्तधीस्यां' से आनुकूल्यसङ्कल्प, 'त्वमसि शरणमित्यध्यवस्यामि गाढम्' से महाविश्वास, 'त्वं मे गोपायिता स्याः' से गोप्तुत्ववरण तथा 'त्वयि निहितभरः' से आत्मनिक्षेप का प्रतिपादन किया गया है।

२—आनुकूल्येतराभ्यां च विनिवृत्तिरपायतः।

का समर्पण ईश्वर को करना होता है।

भक्तियोग और शरणागति

भक्तियोग और शरणागति, ये ही दोनों मुख्य रूप से मोक्ष के साधन हैं। भक्तियोग के अधिकारी वे हैं जिनमें कर्मयोग, सांख्योग तथा भक्तियोग तीनों की सामर्थ्य हो; वे त्रैवर्णिक हों, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हों, तथा विलम्बसहिष्णु हों अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में होने वाले बिलम्ब को भी सह सकते हों। जब तक हन प्रारब्ध भोगों को भोग नहीं लेते तब तक मोक्ष की प्राप्ति का प्रश्न नहीं उठता। इसी कारण कहा जाता है कि मोक्ष की प्राप्ति में भक्तियोग नामक उपाय विलम्ब सापेक्ष है। जिनका भक्तियोग में अधिकार नहीं है, जिनके पास भक्तियोग के अनुष्ठान के लिए शक्ति नहीं है, जो शूद्र है तथा प्रारब्धभोग के पूर्व ही जो मोक्ष के इच्छुक हैं उनका शरणागति में अधिकार है। इस प्रकार से भक्ति और प्रपत्ति का अनुष्ठान अधिकारि-सापेक्ष है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) सञ्चित और (२) प्रारब्ध। भक्ति और प्रपत्ति के द्वारा सभी पूर्वसञ्चित मोक्ष विरोधी कर्मों का नाश हो जाता है, भले ही वे बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक किये गये हों। यदि शरणागति के बाद शरणगत अबुद्धिपूर्वक वैसा कर्म पुनः करता है तो वह गति से नष्ट हो जाते हैं। जो पुनः प्रपत्ति नहीं करते है उनके उन कर्मों का नाश थोड़े दण्ड के भोग से हो जाता है। प्रारब्ध कर्म के विषय में विशेषता यह है कि भक्तियोग में निष्ठ लोगों के ये कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। शीघ्र फल को प्रदान करना शरणागति की प्रमुख विशेषता है।[1] भक्तियोग में

कार्पण्येनाप्युपायानां विनिवृत्तिरिहोदिता ॥
रक्षिष्यतीति विश्वासादभीष्टोपायकल्पनम्।
गोप्तृत्ववरणं नाम स्वाभिप्रायनिवेदनम् ॥
सर्वज्ञोऽपि हि विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन्।
संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षां प्रतीक्षते ॥
आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ॥

ल० तं०, १७।७७-८०

१—उपायोऽयं चतुर्थस्ते प्रोक्तः शीघ्रफलप्रदः। वही, १७।७६

यह विशेषता नहीं है। कर्मयोग तथा सांख्ययोग भक्ति के ही साधक हैं। अतः यहाँ इनका उल्लेख नहीं किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह शङ्का उत्पन्न होती है कि शरणागति शीघ्र फलप्रदा है और भक्तियोग चिरकालसाध्य है इस कारण यह भी कहा जा सकता है कि शरणागति सुकर उपाय है तथा भक्तियोग दुष्कर। यदि दोनों का एक ही फल है, तो निश्चित है कि सभी सुकर उपाय में प्रवृत्त होंगे, दुष्कर में नहीं; क्योंकि उस स्थिति में यह मनुष्य की इच्छा पर है कि मोक्ष नामक फल की प्राप्ति के लिए वह दोनों उपायों में से किसमें प्रवृत्त हो। इस कारण दोनों उपायों के फल भी भिन्न होने चाहिए। इसका उत्तर देते हुए लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है कि यद्यपि एक दृष्टि से शरणागति सुकर है, तथापि एक अन्य दृष्टि से यह उपाय दुष्कर भी है।[1] शरणागति की सुकरता या अनायाससाध्यता तो प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट ही हो जाती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह उतनी ही दुःसाध्य है; क्योंकि शरणागति के लिए महाविश्वास आदि पाँच अङ्गों की आवश्यकता होती है, तथा उपाय और अपाय का त्याग करके मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना होता है[2]। यह ऐसी आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति सभी नहीं कर सकते। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि एक दृष्टि से शरणागति भक्तियोग की अपेक्षा सुकर है तो दूसरी दृष्टि से दुष्कर है।

न्यास का स्वरूप

लक्ष्मीतन्त्र में न्यास का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अपाय और उपाय का त्याग करके मध्यम स्थिति में स्थित, ईश्वर रक्षा करेगा यह निश्चय करके तथा आत्म-समर्पण करके सर्वरक्षक ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।[3] शास्त्रों में जिनका विधान किया गया है उन्हें उपाय कहते हैं तथा

१—उपायः सुकरः सोऽयं दुष्करश्च मतो मम।

वही, १७।१०५

२—उपायापायसंत्यागी मध्यमां वृत्तिमास्थितः।

वही, १७।५८

३—अपायोपायसंत्यागी मध्यमां स्थितिमास्थितः।
रक्षिष्यतीति निश्चित्य निक्षिप्तस्वस्वगोचरः॥

जिनका निषेध किया गया है उनको अपाय कहते हैं।[1] हिंसा, स्तेय आदि शास्त्रों में अपायों के रूप में दिखाये गये हैं तथा कर्म, सांख्य और भक्ति उपायों के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं।[2] शरणागति में उसी का अधिकार है जिसने अपाय और उपाय दोनों को त्याग कर मध्यम वृत्ति का आश्रय ले लिया है। प्रपत्ति के उपर्युक्त स्वरूप में उसके सभी अङ्गों का समावेश है। अपाय के त्याग का अर्थ है—आनुकूल्य-सङ्कल्प तथा प्रातिकूल्य-वर्जन। उपाय के त्याग का तात्पर्य है—कार्पण्य।[3] शेष तीनों अङ्गों (महाविश्वास, आत्म-निक्षेप तथा गोप्तृत्ववरण) का नामतः उल्लेख किया गया है।

यही शरणागति पाञ्चरात्र आगमों की मुख्य प्रतिपाद्य है। वस्तुतः इन आगमों में शरणागति को ही मोक्ष के प्रमुख उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है। वैसे अन्य उपायों का भी नामतः उल्लेख किया जाता है किन्तु उनका कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता है।[4]

मोक्ष और मोक्ष के चार उपाय

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मी तन्त्र में प्रतिपादित मोक्ष ऋग्वेद के परम पद[5] से भिन्न नहीं है। कर्म, ज्ञान, भक्ति और न्यास, ये चार मोक्ष के उपाय हैं। लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित इस विषय को निम्नलिखित सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

बुध्येत देवदेवेशं गोप्तारं पुरुषोत्तमम् ॥

वही, १७।८२, ८३

१—विहिता य उपायास्ते निषिद्धाश्चेतरे मताः।

वही, १७।५७

२—हिंसास्तेयादयः शास्त्रैरपायत्वेन दर्शिताः।
कर्मसांख्यादयः शास्त्रैरुपायत्वेन दर्शिताः ॥

वही, १७।८१

३—वही, १७।७७, ७८

४—सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि ॥

वही, १७।६३

५—ऋग्वेद. १।२२।२०
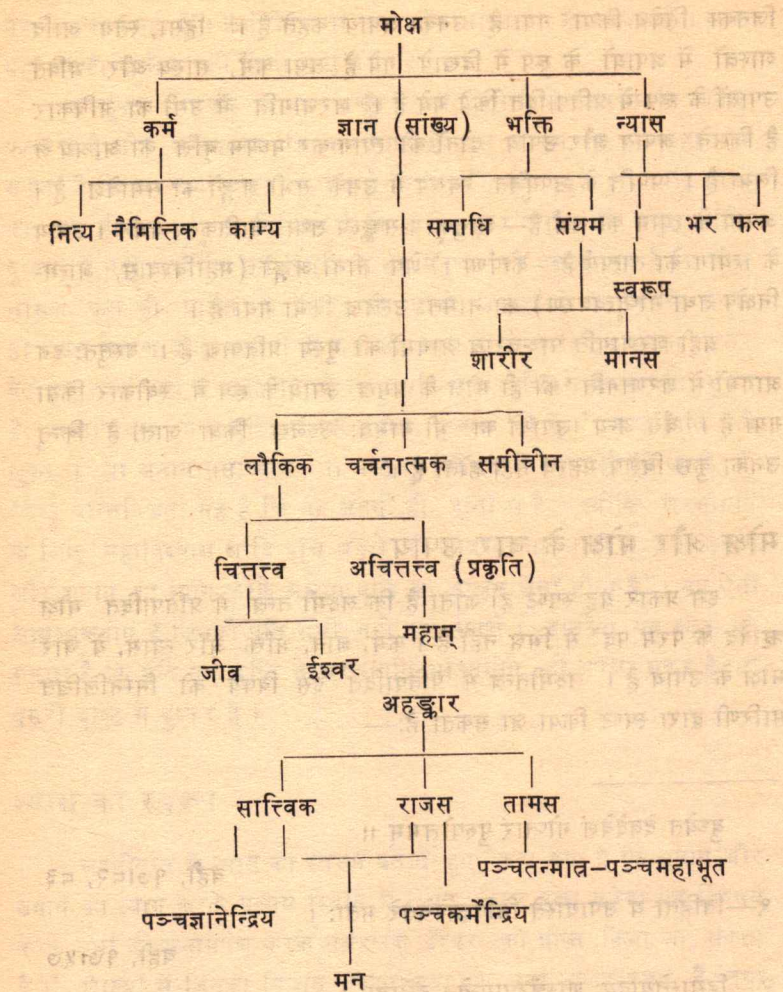
पञ्चकाल प्रक्रिया

पञ्चकालिक कृत्यों का शरणागति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन कृत्यों को प्रायोगिक प्रपत्ति-साधना भी कहा जा सकता है। वेदान्त–देशिक ने प्रपत्ति तथा पञ्चकाल के सम्बन्धकी चर्चा की है।[1] लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित पञ्च-

१—तत्र ये स्वाधिकारानुरूपं प्रपत्तिमेव केवलमव्यवहितमपवर्गसाधनमवलम्बन्ते,

कृत्यों का वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि प्रपत्ति का पञ्चकालिक कृत्यों के साथ निकट का सम्बन्ध है। सम्पूर्ण अहोरात्र को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—

१—अभिगमन
२—उपादान
३—इज्या
४—स्वाध्याय
५—योग

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त से लेकर दिन के प्रथम प्रहर पर्यन्त अभिगमन-काल होता है। दिन का द्वितीय प्रहर उपादान काल है। इज्या-काल सार्द्ध तृतीय प्रहर है। चतुर्थ प्रहर का अवशिष्ट भाग स्वाध्याय का काल है। उस रात्रि के आरम्भ से लेकर दूसरे दिन के ब्राह्म मुहूर्त तक का काल योग-काल है।[१] अभिगमन का आरम्भ प्रपत्तिपूर्वक किया जाता है।[२] इससे ज्ञात होता है कि प्रपत्ति

तैरयं पञ्चकालक्रमः परित्याज्यः परिग्राह्यो वेति विचार्यते।·········
परित्याज्य इति पूर्वपक्षः। राद्धान्तस्तु परिग्राह्य एवायमिति।
पां०, र०, द्वि०, पृ० १११

१—ब्राह्मान्मुहूर्तादारभ्य प्रागंशं विप्रवासरे।
·······························
······तच्चाभिगमनं स्मृतम्।
·······························।
भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम्।
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम्॥
·······························।
सार्धं तु प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स स्मृतः॥
·······························
स्वाध्यायसंज्ञं तद्विद्धि कालांशं मुनिसत्तम।
·······························
पञ्चमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिदः॥
जया०सं०, २२।६८–७४

२—हित्वा योगमयीं निद्रामुत्थायापररात्रतः।

और पञ्चकालिक कृत्यों में किस प्रकार का सम्बन्ध है। इस उक्ति के पश्चात् संक्षेप में प्रपत्ति के स्वरूप का वर्णन है। इस प्रकार प्रपत्ति और प्रपन्न का वर्णन करने के पश्चात् सदाचार के अर्थ में पञ्चकालिक कृत्यों का वर्णन किया गया है।[1] यह सदाचार का वर्णन किसके लिए हो, इस प्रकार की आकांक्षा नहीं होती, क्योंकि इसके पूर्व ही प्रपन्न का माहात्म्य बताया गया है। इसलिए प्रपन्नों अथवा शरणागतों के लिए ये पञ्चकालिक कृत्य सर्वथा ग्राह्य हैं, क्योंकि ईश्वर के ध्यान से रहित कोई भी क्षण या मुहूर्त हानिकारक है।[2] सम्पूर्ण अहोरात्र का कोई भी क्षण ऐसा न हो जिसमें शरणागत ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य विषय का चिन्तन करे। इस कारण उसे सदा ईश्वर के कैङ्कर्य में रत रहना चाहिए। इस कार्य में सुविधा के लिए ही इस कालपञ्चक की व्यवस्था की गयी है। इसी कारण पाञ्चरात्र आगमों में कालपञ्चक का बहुत माहात्म्य है। लक्ष्मीतन्त्र में इस कालपञ्चक को ही धर्म कहा गया है।[3] यथा—धर्म से परितुष्ट होकर ईश्वर (लक्ष्मीनारायण) विविध भोगों को प्रदान करता है। यह धर्म आचार रूप है। आचार उस धर्म का लक्षण है। यहाँ इस वर्णन से तो बहुप्रचलित 'आचारः परमो धर्मः' उक्ति की ही पुष्टि होती है, किन्तु वह आचार या सदाचार क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में लक्ष्मीतन्त्र में पञ्चकालकृत्यों का वर्णन किया गया है। अतः इससे तो यही स्पष्ट होता हैं कि धर्म पाञ्चकालिक कृत्य ही हैं।

(१) अभिगमन

ब्राह्म मुहूर्त से लेकर दिन के प्रथम प्रहर पर्यन्त अभिगमन का समय

प्रपद्येत हृषीकेशं शरण्यं श्रीपतिं हरिम् ॥

लꣲ तंꣲ, २८।८

१—लꣲ तंꣲ, २८।१७, १८

२—यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ।

गरुडपुराण, पृꣲ, २२२।२२

३—ददामि विविधान् भोगान् धर्मेण परितोषिता ।
... ...
आचाररूपो धर्मोऽसावाचारस्तस्य लक्षणम् ।
तमाचारं प्रवक्ष्यामि यः सद्भिरनुपाल्यते ॥

लꣲ तंꣲ, २८।६, ७

होता है।[१] ब्राह्म मुहूर्त में निद्रा का त्याग अभिगमन का प्रथम कृत्य है। निद्रा त्याग करके ईश्वर के प्रति प्रपत्ति करनी चाहिए।[२] इसके पश्चात् सदाचार के रूप में अभिगमन-काल के कृत्यों का वर्णन किया गया है।[३] प्रपन्न को चाहिए कि वह सभी प्राणियों के सुख की कामना करता हुआ सो कर उठे। सभी प्राणी सात्त्विक और विमल मार्ग पर हों, निरन्तर ईश्वर का भजन करें तथा परम-पद में प्रविष्ट हों अर्थात् मोक्ष प्राप्त करें इस प्रकार सभी प्राणियों के लिए मन तथा वाणी से कामना करके धर्मशास्त्रों के विधान के अनुसार शरीर-शोधन करना चाहिए। विधिवत् शौच, दन्तधावन तथा आचमन आदि करके शास्त्र-वचनों के अनुसार स्नान करके तीनों लोकों को पवित्र करने वाली संध्या की उपासना करनी चाहिए। संध्या का वर्णन इस प्रकार किया गया है—सूर्य, सोम तथा अग्निरूपिणी विविध शक्तियों से युक्त संध्या देवी सभी प्राणियों की शुद्धि के लिए प्रवृत्त होती हैं। इस प्रकार संध्योपासना करके सूर्य मण्डलान्तर्वर्ती, विशिष्ट दीप्तिसम्पन्न पुरुषोत्तम की उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार अभिगमनकालीन-कृत्यों का वर्णन किया गया है। इन सभी कृत्यों की सार्थकता तभी है जब कि उनको करते समय साधक का ध्यान ईश्वर तथा उसकी अनुग्रह-शक्ति में हो। वस्तुतः अभिगमन की मूल भावना यही है—आत्मशुद्धि, आत्मानुसन्धान तथा ईश्वर-प्राप्ति।

(२) उपादान

अभिगमन के पश्चात् उपादान का काल आता है। दिन के द्वितीय प्रहर को ही उपादान-काल कहते हैं। ईश्वर के कैङ्कर्य के लिए आवश्यक सामग्रियों

१—ब्राह्मान्मुहूर्तादारभ्य प्रागंशं विप्रवासरे।
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः।
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम्।

जया० सं०, २२।६८, ६९

२—हित्वा योगमयीं निद्रामुत्थायापररात्रतः।
प्रपद्येत हृषीकेशं शरण्यं श्रीपतिं हरिम्॥

ल० तं०, २८।८

३—ल० तं०, २८।१८–२३

का अर्जन ही इसका प्रयोजन है।[1] ईश्वर की अर्चना के लिए जिन सामग्रियों का इस समय में सङ्ग्रह विशेष रूप से किया जाता है वे हैं भगवान् के चरणों में समर्पित करने के लिए सुरभित और मनोज्ञ पुष्प, वस्त्र, धन-धान्य, अनुलेपन के लिए चन्दन, भोग के लिए उपयुक्त फल-मूल, दधि, क्षीर, घृत, मुद्ग, माष, ताम्बूल आदि। इस प्रकार का विस्तृत वर्णन जयाख्यसंहिता में किया गया है।[2] लक्ष्मीतन्त्र के अन्तर्गत उपादान-विधि का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चकाल-विधि से श्रीवैष्णवों के घनिष्ठ सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर ही अधिक विस्तार की उपेक्षा की गयी है। इसी प्रकार से अभिगमन कालीन कृत्यों का तो वर्णन किया गया है किन्तु अभिगमन नाम से उस काल का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि पचकाल-विधि का स्वरूप लक्ष्मीतन्त्र के पूर्व ही अन्य पाञ्चरात्र संहिताओं द्वारा निर्धारित हो चुका था।

उपादान-विधि का वर्णन करते हुए लक्ष्मीतन्त्र में विधान किया गया है कि उपादान विधि का सम्यक् आचरण करना चाहिए किन्तु वित्त के होने पर ऐसा नहीं करना चाहिए। सात प्रकार का धनागम धर्मयुक्त कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) दाय, (२) लाभ, (३) क्रय, (४) जय, (५) प्रयोग, (६) कर्मयोग अर्थात् कृषि, तथा (७) सत्प्रतिग्रह।[3] लक्ष्मीतन्त्र के इस स्थल

१—अह्नो द्वितीयभागेन कृष्णाराधनतत्परः।
द्रव्याण्याराधनार्थानि शास्त्रीयाणि समार्जयेत्॥
... ...
यथार्हं तानि संस्कृत्य प्रक्रमेतार्चनं ततः॥

पां० र०, पृ० १३६, पर उदाहृत

२—ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्।
भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम्॥
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम्॥

जया० सं०, २२।६९, ७०

३—कुर्यादग्निविधिं सम्यगुपादानमथाचरेत्।
सति वित्ते न कुर्वीतोपादानं तु विचक्षणः॥
सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥

ल० तं०, २८।२४,२५

से मनुस्मृति का प्रभाव असन्दिग्ध हो जाता है।[1]

इस प्रकार उपादान के विषय में कोई विशेष बात नहीं कही गयी है, और न अन्य संहिताओं की भांति विस्तृत वर्णन ही किया गया है। ईश्वर की आराधना के लिए उपयुक्त सामग्री का अर्जन करना ही उपादान की मूल भावना है।

(३) इज्या

उपादान-काल के बाद इज्या-काल आता है। सार्द्ध तृतीय प्रहर इज्या-काल कहा गया है। जयाख्यसंहिता का कथन है कि उपादान के पश्चात् सार्द्धतृतीय प्रहर तक अष्टाङ्ग-याग के द्वारा ईश्वर की पूजा करनी चाहिए। इसी को इज्याकाल कहते हैं।[2] ईश्वर की आराधना के आठ अङ्गों को अष्टाङ्ग याग कहते हैं। लक्ष्मीतन्त्र में प्रायः यही बात दूसरे शब्दों में कही गयी है। इज्या-काल का नामतः उल्लेख न करते हुए उपादानोत्तर कालीन कृत्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जल, मन्त्र और स्मृति इन तीन प्रकारों का शास्त्रोक्त-स्नान[3] तथा भूतशुद्धि का विधान करके अन्तर्याग करना चाहिए। अनुयागावसानक अष्टाङ्ग-याग द्वारा ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। यही इज्याकालीन-कृत्य हैं। (क) अन्तर्याग, (ख) भोगयाग, (ग) मध्वादियाग, (घ) अन्नयाग, (ङ) सम्प्रदान, (च) वह्नि सन्तर्पण, (छ) पितृयाग, तथा (ज) अनुयाग—यही अष्टाङ्ग याग के आठ अङ्ग हैं।[4]

१—द्रष्टव्य—मनु० १०।११५, प्रस्तुत श्लोक लक्ष्मीतन्त्र में यथावत् उदाहृत है। उदाहृत इसलिए कि मनुस्मृति में यह प्रसङ्गतः वर्णित है, जबकि लक्ष्मीतन्त्र में अधिक प्रासङ्गिक नहीं है।

२—ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत् परमेश्वरम्।
सार्द्धं तु प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स स्मृतः॥
जया० सं०, २२।७१

३—ल० तं०, ३४।९४

४—स्नानं कृत्वा विधानेन त्रिविधं शास्त्रचोदितम्।
भूतशुद्धिं विधायाथ यागमान्तरमाचरेत्॥
स्वयमुत्पादितैः स्फीतैर्लब्धैः शिष्यादितस्तथा।
भोगैर्यजेत मां विष्णुमुभौ वा शास्त्रपूर्वकम्।

(क) अन्तर्याग

अन्तर्याग का अनुष्ठान भूतशुद्धि के पश्चात् करना चाहिए। भूतशुद्धि का अर्थ है कि ईश्वर की आराधना के लिए योग्यता सम्पादनार्थ साधक की देह में स्थित भूतों का शुद्धीकरण। भूतों का अपने-अपने कारणों में लय तथा उनसे भगवन्मय अप्राकृत भूतों के आविर्भाव पूर्वक उससे उत्पन्न देह में स्थिति का चिन्तन ही भूतशुद्धि है।[1]

पृथ्वी का गन्ध-तन्मात्र में, गन्ध-तन्मात्र का जल में, जल का रस-तन्मात्र में, रस-तन्मात्र का अग्नि में, अग्नि का रूप-तन्मात्र में, रूप-तन्मात्र का वायु में, वायु का स्पर्श-तन्मात्र में, स्पर्श-तन्मात्र का आकाश में, आकाश का शब्द-तन्मात्र में, शब्द-तन्मात्र और इन्द्रियों का अहङ्कार में, अहङ्कार का महान् में, महान् का प्रकृति में, प्रकृति का तम में लय तथा तम और आत्मा का परमात्मा में एकीभाव, इसी को भूतों का स्वकारणों में लय या संहारन्यास कहा गया है। तत्पश्चात् परमात्मा से तम, तम से प्रकृति, प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से इन्द्रियां और तन्मात्र, शब्द तन्मात्र से आकाश, आकाश से स्पर्श-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र से वायु, वायु से रूप-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र से अग्नि, अग्नि से रस-तन्मात्र, रस-तन्मात्र से जल, जल से गन्ध-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति का चिन्तन करना ही सृष्टिन्यास कहा जाता है। इसके पश्चात् मन्त्र, कर, देह-न्यास आदि के द्वारा ईश्वर की आराधना के योग्य दिव्य शरीर को धारणा करके[2] अन्तर्याग या मानस-याग

अष्टाङ्गेन विधानेन ह्यनुयागावसानकैः ॥

ल० तं०, २८।२६-२८

१—प्रकृत्यन्तस्य पृथ्व्यादेः कादिभान्ततयैव च।
मन्मयीकरणं बुद्ध्या भूतशुद्धिरिहोच्यते ॥

ल० तं०, ३५।२

द्रष्टव्य—प्राकृतानां तेषां स्वस्वकारणेषु लयचिन्तनपूर्वकं भगवति समर्पणं कृत्वा पुनस्तत्सकाशात् भगवन्मयाप्राकृतभूताविर्भाव-पूर्वकं तदारब्धदेहावस्थितिभावनम्।

ल० तं० टी०, ३५।१

२—अहं स भगवान् विष्णुरहं लक्ष्मीः सनातनी।
इत्येवं भाववान् योगी भूयो नैव प्रजायते।

ल० तं०, ३५।८०

करना चाहिए। जिस क्रम से बाह्य याग का अनुष्ठान किया जाता है उसी क्रम से मानस याग भी किया जाता है।[1]

वैसे प्रचलित मानस याग की विधि है–सुषुप्त्यवस्था का ध्यान करके नाभि में ब्रह्माञ्जलि बांध कर बाह्येन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को ईश्वर में निक्षिप्त करके मानसोपचारों के द्वारा ईश्वर की आराधना की जानी चाहिए। आराधना के इसी प्रकार को अभिगमन कहा गया है।[2]

(ख) भोगयाग

अर्घ्य पुष्प आदि बाह्य उपचारों से की गयी आराधना को भोगयाग कहा गया है।[3] लक्ष्मीतन्त्र में जिन भोगों को प्रदान करने का विधान किया गया है उनकी संख्या बहुत अधिक बतायी गयी है।[4] सम्भवतः किसी अन्य पाञ्चरात्र संहिता के अन्तर्गत इतने विस्तार में भोगों की चर्चा नहीं की गयी है।

(ग) मध्वादियाग

दुग्ध, मधु और दधि के सम्पर्क को मधुपर्क कहते हैं। इसी मधुपर्क से

१—बाह्यप्रक्रियया शाश्वत् परस्ताद् वक्ष्यमाणया।
मां यजेत सुनिष्णातो भोगैः सांस्पर्शिकादिकैः॥
... ...
यः क्रमोऽभिहितो बाह्ये स सर्वो मानसेऽत्र तु।
अवधानेन वा कार्या मन्मयैर्द्रव्यसञ्चयैः॥
ल० तं०, ३६।१३७, १४७

२—अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदम्।
तदाद्यमङ्कं यागस्य तच्चाभिगमनं भवेत्॥
जया० सं०, २२।७५, ७६

३—पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैभोगैर्यदखिलं मुने।
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद॥
जया० सं०, २२।७६, ७७

४—ल० तं०, ३९।१–२६

की जाने वाली भगवदाराधना को मध्वादियाग कहते हैं।[१] जयाख्यसंहिता में मधुपर्क तथा पशु के द्वारा पूजा का विधान किया गया है।[२] पशु के द्वारा पूजा के विधान का तात्पर्य है—आत्मा का अर्पण या समर्पण।[३]

(घ) अन्नयाग

ईश्वर के लिए पक्वान्न का अर्पण अन्नयाग कहा जाता है। मधुपर्क के समान ही अन्न से याग करना चाहिए। शालि अन्न से निर्मित मात्राएं अन्न-यागार्थ दी जानी चाहिए। ताम्बूल आदि भी अर्पण करना चाहिए।[४]

(ङ) सम्प्रदान

ईश्वर को निवेदित किये गये अन्न का अन्य लोगों को दान करना सम्प्रदान है।[५] लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार लक्ष्मीमन्त्र का उच्चारण करते हुए गुरुओं अथवा वैष्णवों को निवेदित अन्न दिया जाना चाहिए।[६]

(च) वह्निसन्तर्पण

ईश्वर के लिए अग्नि में आहुति देना ही वह्निसंतर्पण है।[७] इस प्रकार

१—यजेत मधुपर्केण तथा तदवधारय।
पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपर्ककः॥

ल० तं०, ३९।२७

२—मध्वाज्याक्तेन दध्ना वै पूजा च पशुनाऽपि वा।

जया० सं०, २२।२७

3—Animal-offering, here; is a symbolism which stands for the offering of one's own soul.

Vedānta Deśika., p. 411

४—ल० तं०, ३९।३०, ३१

५—निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्तविधिना मुने।
सम्प्रदानं तु तन्नाम यागाङ्कं पञ्चमं स्मृतम्॥

६—ल० तं०, ४०।२९, ३०

७—अथ वह्निगतां सम्यगग्नीषोममयीं पराम्।
तर्पयेन्मां सुरेशान यथावदवधारय॥

ल० तं०, ४०।३०, ३१

वह्निसन्तर्पण का अर्थ बताकर विस्तार में अनुष्ठान विधि का वर्णन किया गया है।[1]

(छ) पितृयाग

पितरों को उद्देश्य में रखकर किया जाने वाला याग पितृयाग कहा जाता है। हवन के पश्चात् अवशिष्ट अन्न से तीन पिण्ड बनाकर पितरों को लक्ष्य करके निर्वापण किया जाता है। तत्पश्चात् अर्घ्य से प्रत्येक पिण्ड को जल दिया जाता है तथा वह वैष्णव अथवा विशिष्ट ब्राह्मणों को दे दिया जाता है। अन्त में इन सबका न्यास लक्ष्मीनारायण में किया जाना चाहिए। इस प्रकार पितरों के माध्यम से ईश्वर को प्रसन्न करना इसका उद्देश्य है।

(ज) अनुयाग

अष्टाङ्गयाग में अन्तिम याग है—अनुयाग। प्राणाग्नि को अनुयाग कहते हैं।[2] लक्ष्मीतन्त्र में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि दीक्षितों को अस्त्र तारा के द्वारा प्रोक्षण, परिषेचन, आपोशन, तथा प्राणाहुति करनी चाहिए। जो अदीक्षित है उन्हें अनुयाग करते समय उन उन मन्त्रों से अनुसंहित तारिका का उच्चारण करते हुए अन्तर में स्थित ईश्वर की भावना करनी चाहिए। स्वयं को पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में समझना चाहिए। तत्पश्चात् तारिका का उच्चारण करते हुए उत्तरापोशन पीकर दो बार आचमन करके अनुयाग का ईश्वर में न्यास करना चाहिए।[3]

इस प्रकार वैष्णवों के लिए ये इज्याकालीन-कृत्य अवश्य करणीय हैं क्योंकि यही इज्या अन्य सभी कृत्यों की मूल कारण है।[4]

१—ल० तं०, ४०।३१-८३

२—प्राणाग्निहवनं नाम्ना त्वनुयागस्तदष्टमम्।

जया० सं०, २२।८०

३—ल० तं०, ४०।९५-९९

४—द्रष्टव्य—कर्मारम्भेण मन्त्रेण प्राप्तं कालमनुस्मरेत्।

इज्यामेवाभिसन्ध्यात्सा योनिस्सर्वकर्मणाम्।।

पां० र०, पृ० १४०

(४) स्वाध्याय

इज्या-काल के बाद स्वाध्याय-काल आता है। वेदान्तदेशिक ने स्वाध्याय का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि चतुर्थ काल के प्राप्त होने पर स्वयं जाने गये वेद-वाक्यों के अर्थ को व्यक्त करने के लिए समस्त वेदों के अर्थ को जानने वाले, अपनी योगमहिमा के द्वारा परावर तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले मनु, पराशर, व्यास, शुक तथा शौनक आदि ऋषियों के वेदों का उपबृंहण रूप प्रबन्धों का श्रवण, मनन तथा जप आदि के द्वारा अभ्यास करना चाहिए। इसी को स्वाध्याय कहते हैं।[1]

लक्ष्मीतन्त्र में स्वाध्याय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपराह्न के समय स्वाध्याय का आचरण करना चाहिए। आत्मसिद्धि के लिए दिव्य-शास्त्रों तथा वेदों का अध्ययन करना चाहिए और सभी मन्त्र, आगम, तन्त्र तथा तन्त्रान्तर सिद्धान्तों का भी अध्ययन करना चाहिए। शास्त्रों के उच्चावच या अनेक प्रकार के होने पर भी मन अथवा वाणी से उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। उन शास्त्रों से उतना ही ग्रहण करना चाहिए जितने से अपना प्रयोजन हो। प्राणियों के कल्याण के लिए ही वस्तुतः शास्त्रों का विस्तार किया गया है। शास्त्रों के आदि, मध्य तथा अन्त में विभिन्न विधियों के द्वारा ईश्वर का ही प्रतिपादन किया गया है। नारायण में स्थित होती हुई लक्ष्मी उन शास्त्रों को प्रवर्तित करती हैं। ये शास्त्र अधिकार के अनुसार ही प्रमाण हैं। कहीं कोई भी शास्त्र अत्यन्त हेय नहीं।[2] परतत्त्व का प्रकाशन करने के कारण तथा उसकी आराधना का प्रतिपादन करने के कारण सभी शास्त्र प्राणियों के हित का ही प्रतिपादन करते हैं।[3]

१—अथ स्वाध्यायं व्याख्यास्यामः—चतुर्थे काले सम्प्राप्ते स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणाय विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथार्थ्यानां मनुपराशरपाराशर्यशुकशौनकादीनां महर्षीणां प्रबन्धान् (वेदोपबृंहणानि) श्रवणमननजपादिभिरभ्यसेत्।

पां० र०, पृ० १४३

२—ल० तं०, २८।२९–३७

३—स्वाध्यायमाचरेत् सम्यगपराह्णे विचक्षणः।

(५) योग

पञ्चकाल–कृत्यों में अन्तिम है योग। रात्रि का द्वितीय और तृतीय प्रहर तथा चतुर्थ प्रहर का आदिम भाग योग-काल है। स्वाध्याय के बाद रात्रि के प्रथम प्रहर पर्यन्त सन्ध्या, जप, होम तथा देव पूजा आदि करके योग का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं। अन्तर्बहिः सब प्रकार शुद्ध, एकान्त तथा पवित्र स्थान पर यम, नियम आदि से परिशुद्ध होकर चक्र, पद्म या स्वस्तिक आसन से आसीन होकर, प्राणायाम सिद्ध करके, प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके तथा धारणाओं में श्रम करके, अनौपम्य, अनिर्देश्य आदि विशेषणों से विशिष्ट लक्ष्मी का ध्यान करना चाहिए। इसके पश्चात् समाधि का वर्णन किया गया है। अच्छी तरह से ध्यान करके समाधि का आश्रय लेना चाहिए। यही समाधि योग की पराकाष्ठा है जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय सभी लीन हो जाते हैं। संविद् में योगी के एकीभाव को प्राप्त हो जाने पर अन्य कुछ भी प्रकाशित नहीं होता; केवल लक्ष्मी या ईश्वर का ही भान होता है।[1]

योग से श्रान्त होने पर जप करना चाहिए तथा जप से श्रान्त होने पर योग। इस प्रकार जप और योग द्वारा प्रथम याम को व्यतीत करके योग में स्थित होकर दो याम सोना चाहिए। पुनः रात्रि के अन्तिम भाग में उठ कर पूर्वोक्त पाञ्चकालिक-कृत्यों का आचरण करना चाहिए।

इस प्रकार पञ्चकाल तथा पाञ्चकालिक-कृत्यों का वर्णन किया गया है। भगवच्चिन्तन से रहित एक भी क्षण अनर्थकारक है,[2] इसलिए समय को पाँच

दिव्यशास्त्राण्यधीयीत निगमांश्चैव वैदिकान्।
सर्वाननुचरेत् सम्यक् सिद्धान्तानात्मसिद्धये॥

ल० तं०, २८।२८, २९

१—एकैवाहं तदा भासे पूर्णाहन्ता सनातनी।
ऐकध्यमनुसंप्राप्ते मयि संविन्महोदधौ।
नान्यत्प्रकाशते किञ्चिदहमेव तदा परा।

ल० तं०, २८।४७, ४८

२—सा हानिस्तन्यहच्छिद्रं सा चार्थजडमूकता।

भागों में विभाजित करके प्रपन्नों के लिए एक ऐसी समयसारिणी प्रदान की गयी है कि एक भी क्षण भगवद्ध्यान के विना न व्यतीत हो। इन पञ्चकालों को भगवत्कर्म के द्वारा अच्छिद्र बनाते हुए व्यतीत करना चाहिए।[1] इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने पर ईश्वर-प्राप्ति निश्चित हो जाती है।[2]

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ॥

गरुडपुराण, पू० २२२।२२

१—ल० तं०, २८।५१

२—उभावेतौ मतौ भक्तौ विशतो मां तनुक्षये ।

ल० तं०, २।५३

परिशिष्ट

सन्दर्भग्रन्थ सूची

१. संस्कृत

अग्निपुराण	सं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टार्य, (कलकत्ता; सरस्वती यन्त्र, १८८२)
अथर्ववेदसंहिता	(अजमेर : आर्यसाहित्य-मण्डल लिमिटेड, १९५७)
अष्टाध्यायी	पाणिनि, वामनजयादित्यकृत काशिकासहित, द्वितीय संस्करण (बनारस : मेडिकल हाल प्रेस, १८९८)
अहिर्बुध्न्यसंहिता	प्रथम भाग, सं० एम० डी० रामानुजाचार्य, (मद्रास : अड्यार लाइब्रेरी, १९१६)
ईशावास्योपनिषद्	शाङ्करभाष्य सहित, (गोरखपुर : गीता प्रेस, सं० २०१६)
ईश्वरसंहिता	सं० प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्य, (काञ्चीपुरम् , सुदर्शन प्रेस, १९२३)
उणादिसूत्राणि	नारायणभट्टकृत प्रक्रियासर्वस्ववृत्ति सहित, द्वितीय भाग, सं० ति० रा० चिन्तामणि, (मद्रास, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३३)
ऋग्वेद	प्रथम भाग, (पूना, वैदिक संशोधन मण्डल, १९३३)
ऋग्वेद	सं० नारायण शर्मा सोनटक्के तथा चिन्तामणि शर्मा काशिकर, चतुर्थ भाग, (पूना, वैदिक संशोधन मण्डल १९४६)
कठोपनिषद्	शाङ्करभाष्य सहित, (गोरखपुर, गीता प्रेस, अदिनाङ्कित)

कपिञ्जलसंहिता — सं० पोडिचेटि सीतारामानुजार्य, (भद्राचल, आं प्र० पाञ्चरात्रागमसारसर्वस्वम्, ईस्ट गोदावरी, १९३१)

कुलचूडामणितन्त्र — सं० गिरीशचन्द्र वेदान्ततीर्थ, (कलकत्ता, संस्कृत प्रेस डिपाज़िटरी, ३० कार्नवालिस स्ट्रीट, तथा (London : Luzac & Co. 46 Great Russel Street W. C. 1915)

कुलार्णवतन्त्र — (मद्रास—१७, गणेश एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, १९६५)

गरुडपुराण — सं० रामतेज पाण्डेय, (काशी, पण्डित पुस्तकालय, १९६३)

गीताभाष्य — रामानुजकृत, रामानुजग्रन्थमाला, सं० अक्कारक्कनि सम्पत्कुमाराचार्य, प्रकाशक काञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला आफिस १९५६)

गीताभाष्य — रामानुजकृत, तृतीय संस्करण, (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं० २०१७)

गीतार्थसङ्ग्रह — यामुनाचार्यकृत, वेङ्कटनाथकृत रक्षा सहित, वेदान्त-देशिक ग्रन्थमाला—व्याख्यान विभाग, द्वितीय सम्पुट, सं० काञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य (काञ्ची-पुरम् , ग्रन्थमाला आफिस, १९४१)

गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला—व्याख्यान विभाग, द्वितीय सम्पुट, सं० काञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम् , ग्रन्थमाला आफिस, १९४१)

गूढार्थसङ्ग्रह — श्रीमदभिनवरङ्गनाथपरकालस्वामिकृत, (मैसूर, श्री-मद्वेदान्तदेशिक विहारसभा, १९५९)

गौतमधर्मसूत्राणि — डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय कृत हिन्दीव्याख्या सहित, (वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९६६)

छान्दाग्योपनिषद् — चतुर्थ संस्करण,(गोरखपुर, गीता, प्रेस, सं० २०१९

जयाख्यसंहिता — सं० एम्बार कृष्णमाचार्य, (बडौदा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १९३६)

तत्त्वत्रय — लोकाचार्यकृत, वरवरमुनिकृत भाष्य सहित, सं० राम

चन्द्र शास्त्री (बनारस, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ १९३८)

तत्त्वत्रयभाष्य — वरवरमुनिकृत, सं० रामचन्द्र शास्त्री, (बनारस, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९२८)

तत्त्वमुक्ताकलाप — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, वेदान्तविभाग तृतीय सम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला आफिस, १९४६)

तन्त्राधिकारिनिर्णय — भट्टोजिदीक्षितकृत, (काशी, पं० टीकादत्त धीताल नेपाली सौभाग्य पुस्तकालय, अदिनाङ्कित)

तन्त्रालोक — अभिनवगुप्तकृत, जयरथकृत टीका सहित, सं० म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री, प्रथम भाग, (प्रयाग, इण्डियन प्रेस, १९१८)

तन्त्रालोकटीका — राजानक जयरथ कृत, सं० म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री, प्रथम भाग, (प्रयाग, इण्डियन प्रेस, १९१८)

तात्पर्यचन्द्रिका — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान विभाग, द्वितीय सम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्ग-राचार्य, (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला आफिस, १९४१)

तान्त्रिकसाहित्य — म० म० गोपीनाथ कविराज कृत, (लखनऊ, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गान्धी मार्ग, १९७२)

तैत्तिरीयारण्यक — सं० राजेन्द्रलाल मित्र, (कलकत्ता, वाप्टिस्ट मिशन प्रेस, १८७१)

तैत्तिरीयोपनिषद् — ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः, सं० नारायणराम आचार्य पञ्चम संस्करण, (मुम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९४८)

तैत्तिरीयब्राह्मण — सायणाचार्यकृत भाष्य सहित, सं० राजेन्द्रलाल मित्र, द्वितीय भाग, (कलकत्ता, वाप्टिस्ट मिशन प्रेस, १८६२)

दुर्गासप्तशती — पञ्चम संस्करण, (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं० २०२१)

नारायणीयोपनिषद् — अष्टाविंशत्युपनिषदः, द्वारिकादास शास्त्री, (वाराणसी, प्राच्य भारती प्रकाशन, १९६५)

निक्षेपरक्षा — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान विभाग, तृतीय सम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्ग-

राचार्य, (श्रीरङ्गम्, श्रीविलास मुद्रणालय, १९४१)

नित्याषोडशिकार्णवः — सं० पण्डित व्रजबल्लभ द्विवेदी, (वाराणसी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, शक० १८८०)

निरुक्त — यास्ककृत, दुर्गाचार्यकृत वृत्ति समेत, पूर्वषट्कात्मक प्रथम भाग, सं० बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े (पूना, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९२१)

न्यायपरिशुद्धि — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रंथमाला, वेदान्त विभाग, द्वितीय सम्पुट, सं० कृष्णमाचार्य स्वामी तथा प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (मद्रास, लिबर्टी मुद्रणालय १९४०)

न्यासतिलक — वेङ्कटनाथकृत, नीलमेघाचार्यकृत हिन्दी व्याख्या सहित, सं० राघवाचार्य, (बरेली, आचार्य प्रेस, सं० २०१७)

न्यासदशक — वेङ्कटनाथकृत, नीलमेघाचार्यकृत हिन्दी व्याख्या सहित, सं० राघवाचार्य, (बरेली, आचार्य प्रेस, १९५९)

न्यासविंशति — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, स्तोत्रावली विभाग, सं० कृष्णमाचार्य स्वामी तथा प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (कञ्जीवरम्, ३९ सन्निधि वीथी, १९४०)

पद्मपुराण — तृतीय भाग, सं० विश्वनाथ नारायण, (पूना, आनन्दाश्रम, १८९४)

परमपदसोपान — वेङ्कटनाथकृत, नीलमेघाचार्यकृत संस्कृत अनुवाद तथा हिन्दी व्याख्या, सं० राघवाचार्य, (बरेली, आचार्य प्रेस, १९५९)

परमसंहिता — सं० एस० कृष्णस्वामी आयङ्गार, (बडौदा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १९४०)

पाञ्चरात्ररक्षा — वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान-विभाग, तृतीय सम्पुट, सं० प्रतिवादि भयङ्कर अण्णङ्गराचार्य (श्रीरङ्गम्, श्रीविलास मुद्रणालय, १९४१)

पाद्मसंहिता — सं० यतिराज सम्पत्कुमार जीयर, (बेङ्गलौर, ६, मेन रोड मल्लेश्वरम्, १९४६)

पारमेश्वरसंहिता — सं० गोविन्दाचार्य, (त्रिचिरापल्ली, कल्याण प्रेस १९५३)

पुरुषसूक्त — ऋग्वेद, चतुर्थ भाग, सं० नारायण शर्मा सोनटक्के तथा

चिन्तामणि शर्मा काशिकर, (पूना, वैदिक संशोधन मण्डल, १९४६)

प्रक्रियासर्वस्वम् — नारायणभट्ट कृत उणादि सूत्रवृत्ति, द्वितीय भाग, सं० चिन्तामणि, (मद्रास, मद्रास विश्वविद्यालय १९३३)

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् — क्षेमराजकृत, सं० के० सी० चटर्जी, (श्रीनगर, १९११)

प्रमाणवार्तिक — धर्मकीर्तिकृत, मनोरथनन्दीकृत वृत्ति सहित, सं० राहुल सांकृत्यायन, (पटना, बिहार एण्ड ओडिसा रिसर्च सोसायटी, १९३७)

प्रमाणवार्तिकवृत्ति — मनोरथनन्दीकृत, सं० राहुल सांकृत्यायन, (पटना, बिहार एण्ड ओडिसा रिसर्च सोसायटी, १९३७)

प्रमाणसमुच्चय — दिङ्नागकृत, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित, सं० रङ्गस्वामी आयङ्गार, (मैसूरु, गवर्नमेन्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, १९३०)

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति — दिङ्नागकृत, सं० रङ्गस्वामी आयङ्गार, (मैसूरु, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी; १९३०)

ब्रह्ममीमांसाभाष्य — श्रीकण्ठशिवाचार्यकृत,

ब्रह्मवैवर्तपुराण — आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः,

भगवद्गीता — रामानुजग्रन्थमाला, सं०प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला ऑफिस, १९५६)

भागवतमहापुराण — सं० घनश्यामदास जालान, षण्ठसंस्करण, (गोरखपुर, गीताप्रेस; सं० २०१०)

मत्स्यपुराण — (पूना, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ५४, १९९७)

मनुस्मृति — हरगोविन्द शास्त्री कृत मणिप्रभा सहित, (बनारस, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९५०)

महाभारत — भाग ३, सं० श्रीपाद बेलवल्कर, (पूना, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९५४)

महाभारत — भाग १६, श्रीपाद कृष्ण बेलवल्कर, (पूना, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९५४)

महाभारत — शान्तिपर्व, (गोरखपुर, गीता प्रेस, अदिनाङ्कित)

महार्थमञ्जरी — महेश्वरानन्द कृत, सं० पं० ब्रजबल्लभ द्विवेदी, (वाराणसी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७२)

माधवीयाधातुवृत्तिः — सायणकृत, सं० द्वारिकादास शास्त्री, (वाराणसी,

प्राच्य भारती प्रकाशन, १९६४)

मार्कण्डेयपुराण (बम्बई, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, अदिनाङ्कित)

मुण्डकोपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित, अष्टम संस्करण (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं० २०१९)

मूलसंस्कृतउद्धरण भाग ३, जे० मूइर कृत *Oriental Sanskrit Texts* का हिन्दी अनुवाद, सं० रामकुमार राय, (वाराणसी, चौखम्भा विद्याभवन, १९६४)

मैत्रायणी उपनिषद् ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः, नारायण राम आचार्य, पञ्चम संस्करण, (मुम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९४८)

मृगेन्द्रागम क्रियापादचर्यापादौ, सं० एन० आर० भट्ट, (Pondi chery; Institute Francais D'Indologie, 1962)

यतीन्द्रमतदीपिका श्रीनिवासदासकृत, स्वामी आदिदेवानन्द कृत अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी सहित, (मद्रास, श्रीरामकृष्ण मठ, १९४९)

यजुर्वेद उव्वट तथा महीधर कृत भाष्य सहित, सं० वसुदेव शर्मा पणशीकर, (मुम्बई, निर्णयसागर मुद्रणालय, १९२९)

योगसूत्र पतञ्जलिकृत, भोजराजकृत राजमार्तण्ड, भावगणेशकृत प्रदीप, नागोजिभट्टकृत वृत्ति, रामानन्दकृत मणिप्रभा तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत योग सुधाकर सहित, सं० पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, (बनारस, चौखम्भा विद्या-भवन, १९३०)

रघुवंश कालिदास कृत, बम्बई, (निर्णय सागर प्रेस, १९१७)

लक्ष्मीतन्त्र सं० पं० वी० कृष्णमाचार्य, (मद्रास, अड्यार लाइ-ब्रेरी, १९५९)

ललितासहस्रनाम भास्करराय कृत भाष्य सहित, (मुम्बई, निर्णय सागर मुद्रणालय, १९३५)

वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत, ब्रह्मकाण्ड, सं०रामगोविन्द शुक्ल, द्वितीय संस्करण, (वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९६१)

वायुपुराण (बम्बई, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, १९३३)

विष्णुपुराण तृतीय संस्करण, (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं०२००९)

वृहदारण्यकोपनिषद् द्वितीय संस्करण, (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं० २०१२)

वेदार्थसङ्ग्रह रामानुजकृत, नीलमेघाचार्यकृत हिन्दी व्याख्या सहित, सं० राघवाचार्य, (बरेली, आचार्य प्रेस, १९६१)

वैखानसविजय उत्तमूर टी० वीरराघवाचार्य कृत, प्रकाशक उ० वे० पि० बि० श्रीनिवासराघवाचार्य, (तिरुपति, तिरुमल तिरुपति देवस्थान मुद्रायन्त्र, १९६३)

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी भट्टोजिदीक्षित कृत, तत्त्वबोधिनी, बाल मनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर तथा सुबोधिनी सहित, सं० गुरुप्रसाद शास्त्री, (बनारस, श्रीराजस्थान संस्कृत कालेज, सं० १९९७)

व्याकरणमहाभाष्य पतञ्जलि कृत, कैयट कृत प्रदीप तथा नागेश भट्टकृत उद्योत सहित, खण्ड २, सं० रघुनाथ शास्त्री, द्वितीय संस्करण, (मुम्बई, निर्णयसागर प्रेस १९४५)

व्याकरणमहाभाष्य पतञ्जलिकृत, कैयट कृत प्रदीप तथा नागेश भट्ट कृत उद्योग सहित, खण्ड ५, सं० पं० भार्गव शास्त्री जोशी (मुम्बई, निर्णयसागर प्रेस, १९४५)

शक्तिसङ्गमतन्त्र सं० बी० भट्टाचार्य, प्रथम भाग, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ vol. LXI, (बड़ौदा, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १९३२)

शतपथब्राह्मण सायणकृत वेदार्थप्रकाश तथा हरिस्वामी कृत भाष्य सहित, भाग ४, (बम्बई, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, १९४०)

शरणागतिगद्यभाष्य वेङ्कटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान विभाग, प्रथम सम्पुट, सं० काञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर अणङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला आफिस, १९४०)

शाण्डिल्यसंहिता सं० महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, भक्ति खण्ड, प्रथम भाग, (काशी, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, १९३६)

शाण्डिल्यसंहिता प्रास्ताविक अनन्त शास्त्री फडके लिखित, भक्ति खण्ड भाग २, सं० महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज,

(काशी, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, १९३६)

शारीरकभाष्य — शङ्कराचार्य कृत, प्रथम भाग, पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, (बनारस, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ १९२७)

शिवदृष्टि — सोमानन्द कृत, उत्पलदेव कृत वृत्ति सहित, सं० पं० मधुसूदन कौल शास्त्री, (पूना, आर्य भूषण प्रेस १९६४)

श्रीप्रश्नसंहिता — सं० सीता पद्मनाभन, (तिरुपति, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १९६९)

श्रीभाष्य — रामानुजाचार्य कृत, रामानुज ग्रन्थमाला, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ग्रन्थमाला ऑफिस, १९५६)

श्रीभाष्य, — रामानुज कृत, सुदर्शनसूरि कृत श्रुतप्रकाशिका सहित, सं० उत्तमूर वीरराघवाचार्य (मद्रास, १७ उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, २५ नाथमुनि वीथी, १९६७)

श्वेताश्वतरोपनिषद् — शाङ्करभाष्य सहित, तृतीय संस्करण, (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं० २००९)

सच्चरित्ररक्षा — वेङ्कटनाथ कृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान विभाग, तृतीय सम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (श्रीरङ्गम्, श्रीनिवास मुद्रणालय, १९४१)

सर्वार्थसिद्धि — वेङ्कटनाथ कृत तत्त्वमुक्ताकलाप की स्वोपज्ञ टीका, वेदान्तदेशिकग्रन्थमाला, वेदान्तविभाग, तृतीयसम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अण्णङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ३१, सन्निधिवीथी, १९४१)

सात्त्वतसंहिता — सं० प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्य, (काञ्चीपुरम्, सुदर्शनप्रेस, ११०२)

सात्त्वतसंहिताभाष्य — अशलिङ्गभट्टकृत, अप्रकाशित, पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी १२, अध्यापक निवास, वाराणसी) के सौजन्य से प्राप्त

सांख्यकारिका — ईश्वरकृष्णकृत, गौडपादकृत भाष्य सहित, (वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९६४)

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा — डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र कृत, ईश्वरकृष्णकृत तत्त्वकौमुदी संख्यकारिका तथा वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्वकौमुदी की हिन्दी व्याख्या (प्रयाग, सत्य प्रकाशन मन्दिर १९५६)

सौन्दर्यलहरी	शङ्कराचार्य कृत (मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, १९५७)
सौन्दर्यलहरी	शङ्कराचार्य कृत, सं० पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री तथा टी० आर० श्रीनिवास अय्यङ्गार, (मद्रास, दि थियोसोफिकल पब्लिशिङ्ग हाउस अड्यार, १९३७)
स्तोत्ररत्न	यामुनाचार्य कृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, व्याख्यान-विभाग, प्रथम सम्पुट, सं० प्रतिवादिभयङ्कर अणणङ्गराचार्य, (काञ्चीपुरम्, ३९ सन्निधि वीथी' १९४०)
स्पन्दप्रदीपिका	उत्पल कृत, सं० वामन शास्त्री इस्लाम पुरकर, (काशी, मेडिकल हाल मुद्रणालय, १८९८)
स्वच्छन्दतन्त्र	पञ्चम भाग, (पूर्वार्ध), सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ५१, (मुम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९३०)
हयशिर उपाख्यानम्	श्रीमद् अभिनवरङ्गनाथ परकालस्वामि कृत हयशिरो रत्नभूषण तथा हयशिरोरत्नभूषणदीधिति सहित, (मैसूरु, राजकीय मुद्रालय, १९५०)
हयशीर्षपाञ्चरात्रम्	vol. I, सं० भुवन मोहन सांख्यतीर्थ, (राजशाही, ईस्टबङ्गाल, वरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, १९५२)

२. संस्कृतेतर

उमरखय्याम — 'रुबाइयात-ए-उमरखय्याम,' (लखनऊ, नवल किशोर प्रेस, १९५७)

दयानन्द — 'सत्यार्थप्रकाश', (दिल्ली, देहाती पुस्तक भण्डार, सं० २०१७)

बलदेव उपाध्याय — 'भागवत सम्प्रदाय,' (काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय, १९५३)

भगवद्दत्त — 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास,' प्रथम भाग, वेदों की शाखाएँ (माडल टाउन, पञ्जाब; वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९३५)

भगवद्दत्त — 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास,' द्वितीय भाग, ब्राह्मण तथा आरण्यक, (लाहौर, रिसर्च डिपॉर्टमेण्ट, डी० ए० वी० कालेज, १९२७)

Arthur Avalon — *Principles of Tantras* (Madras, Ganesh & Co. Private Ltd. 1969).

Arthur Avalon — *The Garland of letters* (Madras, Ganesh & Co. Private Ltd. 1963).

Arthur Avalon — *Tantrik Texts*, Vol. I, ed. Pañchānana Bhattāchārya 1937).

Arthur Schopenhauer — *The world as will and Idea*, Vol. I (London 1948).

B. Bhattacharya — Foreward of Jayākhya Saṃhitā, ed. E. Krisṇamācarya, (Baroda, Oriental Institute, 1931).

D. N. Bose & Hira Lal Haldar — Tantras, their Philosophy and occult Secrets, 3rd ed. (Calcutta, Oriental Publishing Co., 1956).

Dagobert D. Runnes	*The Dictionary of Philosophy* (Bombay, Jaico Book Editions 1959).
Eduard von Hartmann	*The Philosophy of the unconcious*, Vol. III, (New York : Kegan Paul, Trench, Turbner & Co. 1931).
F. Otto Schrader	*Introduction to Pāñcarātra and Ahirbudhnya-Saṃhitā* (Madras, Adyar Library, 1916).
H. Daniel Smith	*Vaiṣṇava Iconography*, (Madras-5, Pāñcarātra Pariśodhana Pariṣad, 1969).
J. A. B. Von Buittenen	*Yāmuna's Āgama Prāmāṇyam* (Madras-17, Rāmānuja Research Society, 7, Sarojani Street, 1971).
Jitendra Nath Banerjea	Development of Hindu Iconography, 2nd ed. (Calcutta, University of Calcutta).
Kanti Chandra Pandey	*Abhinavagupta-A Historical & Philosophical study*, (Benaras, Chawkhamba Sanskrit Series, 1935).
P. N. Srīnivāsācārī	*The Philosophy of viśiṣṭādvaita*, (Madras, Adyar library 1943).
Purnendu Narayana Sinha	*A study of Bhāgawata Purāṇa or Esoteric Hinduism*, 2nd ed. (Madras, The Theosophical Publishing House, Adyar 1950).
R. G. Bhandarkar	*Vaiṣṇavism, śaivism and Minor Religious sects*, (Strassburg : verlag von karl J. Trubner, 1913).
S. N. Dasgupta	*A History of Indian Philosophy* Vol. III (Cambridge, University Press, 1952).
S. V. Singh	Vedānta Deśika : His Life, works and Philosophy, A study (Vārānasī : Chawkhamba Sanskrit Series, 1958).
W. Caland	Preface of Vaikhānasa-śrauta Sūtram, ed. W. Caland, (Calcutta, A Royal Asiatic Society of Bengal 1941).

पत्र–पत्रिकायें

दयाशङ्कर और रविशङ्कर — 'पञ्च मकार का आध्यात्मिक रहस्य' कल्याण-शक्त्यङ्क, वर्ष ९, संख्या ६, पूर्णसंख्या ९७; (गोरखपुर, गीता प्रेस, १९३४)

ब्रजबल्लभ द्विवेदी — 'वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्व-विमर्शः' सारस्वती-सुषमा, सप्तदश वर्ष, १–२, ३–४ अङ्क, सं० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, (वाराणसी, अनुसन्धान संस्थान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, सं० २०१९)

S. C. Nandimath — *Śavāgama Their Literature and Theology*, Journal of Karnataka University, 1960).

● ●

शब्दसूची

आ

ई

उ

द

ध

फ

ब